ओ३म्

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी का उपहार

ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला सं० १०४

अथर्ववेद मुनिभाष्य

[तीन काण्ड]

भाष्यकार और प्रकाशक

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

आर्यवानप्रस्थ आश्रम (हरिद्वार)

प्रथम सस्करण १००० | कार्तिक २०३१ वि० सवत् नवम्बर १९७४ ई० | मूल्य पढ़ना प्रचार करना

पुस्तक विक्रेता से १) रु० भेंट देने पर

मुद्रक

सतीश चन्द्र शुक्ल

प्रबन्धकर्त्ता,

वैदिक यन्त्रालय अजमेर, (राज०)

पुस्तक प्राप्ति-स्थान

१. **सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा**

दयानन्द भवन (रामलीला मैदान), नई दिल्ली

२. **प्रकाशन विभाग, वैदिक यन्त्रालय**

आर्यसमाज मार्ग केसरगज-अजमेर

३. आर्य वानप्रस्थ आश्रम

(ज्वालापुर जिला सहारनपुर)

४. गोविन्दराम हासानन्द नई सड़क दिल्ली

सम्मति

श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी महाराज आर्य समाज के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। ऋषि दयानन्द के मन्तव्यो और उनके द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के सिद्धान्तों में 'स्वामी ब्रह्ममुनिजी महाराज की गहन श्रद्धा और आस्था है। आपने ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों की पुष्टि करते हुए वेद, दर्शन और उपनिषदादि पर सस्कृत और हिन्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। आप ऋषि दयानन्द की शैली पर वेदों का भाष्य करने के पवित्र कार्य मे भी लगे हुए हैं। आपका यजुर्वेद के दस अध्यायों का भाष्य प्रकाशित हो चुका है पिछले दिनों आपने सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य भी लिखा है। इस क्रम मे स्वामी जी महाराज ने अथर्व वेद का भाष्य भी लिखना प्रारम्भ कर दिया है। इस भाष्य के प्रथम काण्ड के कुछ स्थलो को बीच-बीच में मैने देखा है। स्वामी जी के अन्य ग्रन्थो की भान्ति यह अथर्ववेद भाष्य भी उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता का परिचायक है। यह भाष्य पूर्ण हो जाने पर उन द्वारा वैदिक साहित्य में एक भारी योगदान होगा और स्वाध्यायशील जनता के लिए यह एक बड़े काम की चीज़ होगी।

आचार्य प्रियव्रत
भूतपूर्व उपकुलपति
गुरुकुल काङ्गड़ी
विश्व विद्यालय हरिद्वार

मैंने आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी परिव्राजक कृत अथर्ववेद प्रथम काण्ड के भाष्य के अनेक अंशों को प्रारम्भिक प्राक्कथन सहित पढ़ा। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता है कि उन्होंने अथर्ववेद के मन्त्रों पर गम्भीरता पूर्वक मनन करके उनके भाव को स्पष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है और कठिन शब्दों के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ, निघण्टु, निरुक्तादि के प्रमाण दिये हैं। यदि संस्कृत मे भी यह भाष्य होता तो इस की प्रामाणिकता और उपयोगिता बढ़ जाती किन्तु इस से प्रकाशन व्ययादि दुगना हो जाता। ऐसी अवस्था में जब कि ८० वर्ष की वृद्धावस्था में हस्तनिर्बलता के कारण दूसरों से स्वलिखित की प्रति करवानी पड़ती है इसमें कठिनाई अत्यधिक बढ़ जाती अतः वर्तमान परिस्थिति में उन के भाष्यादि क्रम को मैं उचित समझता हूँ। आर्षग्रन्थो के प्रमाणों द्वारा वे उस सस्कृत भाष्य के अभाव की कमी को बहुत अंश तक पूरा कर रहे है। मैं आशा करता हूँ कि सर्वशक्तिमान् भगवान् की कृपा से वे इस अथर्ववेद भाष्य को पूर्ण करने में समर्थ होगे और उन्हें धनी मानी वेदप्रेमी तथा सभाओं का सहयोग इसे प्रकाशित करने के लिये मिलेगा जिससे सब लाभ उठा सकें। इस निर्बलता तथा वृद्धावस्था के होते हुए भी श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी का वेद भाष्यादि विषयक यह परिश्रम अभिनन्दनीय है जिसके लिये उनको सब प्रकार की नैतिक तथा आर्थिक सहायता सब धर्म प्रेमियों को देनी चाहिये।

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

(देवमुनिवानप्रस्थ)

वक्तव्य

सामवेद का भाष्य कर देने के पश्चात्‌—जो कि छप चुका था, "अथर्व-वेद" का भाष्य करना आरम्भ किया था, तीन काण्ड का भाष्य कर चुका था' "सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दिल्ली" को श्री पं० धर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड तथा श्री आचार्य प्रियव्रतजी की प्रदर्शित सम्मतियों के सहित पत्र लिखा था कि आपके समय से बहुत पहिले मैं "अथर्व वेद" का पूरा भाष्य करके देदूंगा आप छपा लेना मुझे कुछ भी उस का पुरस्कार या प्रतीकार नहीं चाहिए। उक्त सभा का कोई उत्तर नही आया। पुनः "परोपकारिणी सभा अजमेर" का पत्र आया कि हम आप से ऋग्वेद दशम मण्डल का संस्कृत और आर्य भाषा में भाष्य कराना चाहते है हम उसे छपवायेंगे, तब मैंने निश्चय किया जो छपाना चाहते हैं उनका कार्य करना चाहिए, वह मैंने पूरा कर दिया है विना किसी प्रतीकार के वह छप रहा है। अब सोचा था कि यह अथर्ववेद के तीन काण्डों का भाष्य छप जावे, आर्य जनता को आर्यसमाज की स्थापना शताब्दी पर विना मूल्य उपहार भेंट करदूं एतदर्थ सेवा में अर्पित कर रहा हूँ अब मेरे हाथ और आँखें भाष्य आदि लिखने में असमर्थ हो गए हैं।

स्वामी ब्रह्ममुनि

परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

धन्यवाद

रायसाहब चौधरी प्रतापसिंह जी मॉडल टाउन, करनाल वालों का मेरे प्रति बड़ा स्नेह और श्रद्धा है, उन्होने इस भाष्य के लेखन और प्रेस कॉपी के लिए एक हजार रुपये प्रदान किए हैं उनका हार्दिक धन्यवाद है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ कागज, छपाई और जिल्दबंदी के लिये निम्न महानुभावों ने धन प्रदान किया है, उनका भी अत्यन्त धन्यवाद है।

मेरे भतीजे (बुआ के पौत्र) श्री अगम प्रकाश सिंगल डायरेक्टर इंजिनियर सिंचाई विभाग राजस्थान की प्रेरणा से—

श्री गुलाबसिंह जी आर्य भरतपुर	१०००)
श्री तीर्थराज जी भरतपुर	१०००)
श्री कन्हैयालाल जी बंसल भरतपुर	१०००)
श्री मनमोहन प्रकाश (भतीजे) एक्जीक्यूटिव इंजिनियर, चित्तौड़ ने अपने तथा अन्य के पास से	८५०)
श्री सेठ चानन शाह जी कपूर धनवाद	५००)
श्री हंसराज जी गुह आयरन सिंडीकेट दिल्ली	५००)
श्री विजय कुमार जी, १७ बारह खम्भा रोड़, नई दिल्ली	३००)
श्री कृष्ण दत्तजी पुत्र श्री नारायण दत्तजी, १३, बारह खम्भा रोड, नई दिल्ली	२००)
श्री ओ३म्प्रकाश जी धीमान् रुड़की	२००)
श्री बंसीलाल जी रुड़की	१००)
श्री किशनलाल जी रुड़की	१००)
श्री चाननलाल जी आहूजा, वानप्रस्थ आश्रम	१००)

❀ ओ३म् ❀

अथर्व वेद मुनिभाष्यम्

प्राक्कथन

❀—❀—❀

ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद नाम से चार संहितारूप है। इन्हें कहीं चार वेद न कहकर तीन कहा है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

(मनु० १। २३)

अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः।

(शतपथ ११। ५। ८। ३)

उक्त मनु और शतपथ ब्राह्मण के वचनों में तीन वेद कहे हैं अथर्ववेद का नाम नहीं दिया है।

यज्ञ में विनियोगार्थ तीन वेद कहे हैं 'यज्ञसिद्ध्यर्थम्' शब्द से स्पष्ट है। ऋग्वेदीय अनुक्रमणी के षड्गुरुशिष्यभाष्य मे कहा है कि यह तीन का कथन विनियोक्तव्य दृष्टि से है—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥

(ऋ० अनुक्रमणी षड्गुरुशिष्य)

शतपथ ब्राह्मण में जो ऋग्यजुः साम तीन कहे है वे त्रयीविद्या या विद्यात्रयी की दृष्टि से कहें वहाँ भी चार वेद बतलाए है अथर्ववेद का नाम दिया है।

वेदों में अथर्ववेद की गणना—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ।

(शत० १४ । ५ । ४ । १०)

तथा—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य
निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ।

(शत० १४ । ५ । ५ । १०)

अथर्ववेद में भी—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव स ॥

(अथर्व० १० । ७ । २०)

न केवल अथर्ववेद में ही अपितु ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी अथर्ववेद का सङ्केत है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

(ऋ० १० । ९० । ९, यजु० ३१ । ९)

यहा 'छन्दांसि' शब्द अथर्ववेद के लिये प्रयुक्त है जैसे बृहदारण्यकोपनिषद् में छन्दांसि अथर्ववेद के लिये आया है ।

यदिदं किंचर्चोयजूंषि सामानिच्छन्दांसि ।

(बृह० १ । २ । ५)

अतः अथर्ववेद भी ऋग्वेदादि के समकालीन सिद्ध है ।

पुनश्च—

ऋग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभि
स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति ।

(यजुर्वेदीय काठक शाखा ४० । ७)

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् ।

(छन्दो० ७ । १ । २)

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ।

(मुण्डक० १ । १ । ५)

चत्वारि शृङ्गाहि वेदा वा एत उक्ताः ।

(निरु० १३ । ७)

सूत्र ग्रन्थों में—

जुहोति पृथिव्यै ऋग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदाय अथर्ववेदाय ।

(वैखानस गृह्य० सू० । १२)

एतेन धर्मेण द्वादश वर्षाण्येके वेदे ब्रह्मचर्यं चरेत् ।
चतुर्विंशतिर्द्वयोः षट्त्रिंशत् त्रयाणामष्टाचत्वारिंशत् सर्वेषाम् ।

(वाराह गृह्य०)

महाभारत में भी—

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव हि ॥

(महाभा० सभा प० लोकपाल सभा० ध्या० ११ । २३)

इन वचनों मे अथर्ववेद को 'अथर्व' 'आथर्वण, अथर्वाङ्गिरस, छन्द, इन चार नामों से कहा है ।

अपितु अथर्व का अन्य नामों से वर्णन—

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥

(अथर्व० ११ । ८ । २३)

तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥

(अथर्व० १५ । ६ । ८)

इन दोनों अथर्व वेद वचनों में अथर्ववेद को-ब्रह्मवेद भी कहा है । तथा गोपथ ब्राह्मण में भी अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहा है ।

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः ।

(गोपथ पू० २ । १६)

ऋग्वेद एव भर्गो यजुर्वेद एव महः सामवेद
एव यशो ब्रह्मवेद एव सर्वम् ।

(गोपथपू० ५ । १६)

अथर्ववेद का पांचवां नाम ब्रह्मवेद भी हुआ । अतएव यज्ञ में अथर्ववेद वेत्ता ऋत्विक् नाम ब्रह्मा ब्रह्मवेद अध्ययन या पाठ करने वाला हुआ । जैसे—ऋग्वेद का पाठक होता यजुर्वेद का पाठक अध्वर्यु सामवेद का पाठक उद्गाता ऋत्विक् कहलाता है ।

अथर्वाकावेद अथर्ववेद । अथर्वा ब्रह्मा अतः अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहा है । तथा अथर्व भेषज को कहा है अतः उसे भेषज वेद भी कह सकते है, जैसे—

तद्यदब्रवीदथर्वाङ्नमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत् ।

(गो० ५ । १ । ४)

जलों में भेषज है—

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

(अथर्व० १ । ६ । २)

भेषजं ही अथर्वा है "येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्" ।

(गो० २ । ६ । ४)

शारीरिक एवं बाह्य प्रतिकूल गतियों के प्रतीकार साधन को भेषज कहते है, अथर्वा भी इसी आशय को रखता है ।

"थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः" ।

(निरु० ११ । १६)

जैसे अथर्वा का अर्थ भेषज है एवं ब्रह्म का अर्थ भी भेषज है ।

"ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि" ।

(अथर्व० ११ । ६ । १४)

जैसे अथर्ववेद के स्थान पर ब्रह्मवेद का प्रयोग है एवं ब्रह्मवेद के स्थान पर यहाँ 'भेषजा भेषजवेद है । और भी स्पष्ट रूप मे देखें ।

येऽथर्वाणस्तद् भेषजं यद् भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म ।

(गो० पू० ३ । ४)

इस वचन मे अथर्ववेद भेषजवेद अमृतवेद ब्रह्मवेद नामो से भी कहा जा सकता है । ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ मे ब्रह्मा ऋत्विक् को भिषक्-भेषजकर्ता कहा है ।

यज्ञस्य हैषभिषग् यद् ब्रह्मा यज्ञायैव तद् भेषजं कृत्वा हरति ।

(ऐ० ५ । ३४)

और भी अथर्ववेद में खगोल वेत्ता ज्योतिषी ब्रह्मा—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥

(अथर्व० १४ । १ । ३)

पीने वाले सोम उसे कहते हैं। जिस औषधि को पीसते हैं परन्तु सोम जिसे कोई नहीं खा पी सकता उसे ब्रह्मा जानता है जो चन्द्रमा है।

ब्रह्मा वैज्ञानिक विश्वकर्मा—

(इंजीनीयर)

ब्रह्मणा शालां निर्मितां कविभिर्निर्मितां मिताम्।

(अथर्व० ९ । ३ । १९)

ब्रह्मा के द्वारा निर्मित रूपरेखा में लाई हुई शाला को कवि-मिस्त्री बनाते हैं।

औषधि चिकित्सक के लिये ब्रह्मा शब्द—

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः।

चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि॥

(अथर्व० २ । ९ । ४)

भिषक् ब्रह्मा है औषधियों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट किया है। पशु-चिकित्सक शल्यचिकित्सक ब्रह्मा—

उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात्॥

(अथर्व० ३ । २८ । २)

यहाँ यमिनी युगल बच्चे देने वाली गौ को ब्रह्मा को सौंपे, जिससे वह स्वस्थ अच्छी हो जावे।

शस्त्र द्वारा चिकित्सा करने वाला ब्रह्मा—

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।

तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान्॥

(अथर्व० ६ । ६८ । ३)

यहाँ क्षुरे से काटने वाले को ब्रह्मा कहते है ।

इस प्रकार ब्रह्मा का वेद ब्रह्मवेद अथर्ववेद है। इसमें ब्रह्मविद्या, ज्योतिर्विद्या, शालाविद्या, ओषधि चिकित्सा, शल्य-चिकित्सा, शस्त्रविद्या, भी होने से अथर्ववेद ब्रह्मा का वेद ब्रह्मवेद है । अस्तु[1] ।

---

१ अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्त जिनके आरम्भ में 'अथ' और अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग है उन्हें अथर्ववेद बाह्यकहा जाता है केवल आरम्भ में अथ और अन्त में इति शब्द होने से यह ठीक नही किसी विषय की दृष्टि से भी अथ और इति का प्रयोग किया जा सकता है जैसे कठोपनिषद् मे कथन है "य इमं गुह्यब्रह्मश्रावयेतब्रह्मसंसदि प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पते" यह ग्रन्थ की समाप्ति में होता है परन्तु ग्रन्थ आगे चल रहा है वह केवल अलङ्कार की समाप्ति के लिये है, तथा ऋग्वेद में बालखिल्य सूक्त के भी आदि में 'अथ' और अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग है सो ऋग्वेद की पाच शाखाएँ हैं। चरणव्यूह में ऋग्वेद की पांच शाखाएं बताई हैं—"शाखाः पञ्चविद्या भवन्ति शाकला वाष्कला आश्वलाः-शांख्यायना माण्डूकायनाश्च [चरणव्यूह परिशिष्ट १ । ७ ८] इन में दो आश्वलायन और माण्डूक्य तो अनुपलब्ध हैं शेष तोन में शाकल्यशाखा, वाष्कल्य शाखाए मिलती हैं परन्तु केवल शाकल्य शाखा मे वालखिल्य सूक्त के आरम्भ में 'अथ' और अन्त में 'इति' शब्द का कही प्रयोग मिलता है और कहीं नहीं मिलता शेष वाष्कल्य और शांख्यान में तो बालखिल्य सूक्त में आरम्भ में 'अथ' और अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग नही मिलता है। तब अथ और इति के प्रयोग होने का महत्त्व न रहा, अतः अथर्ववेद में कुन्ताप सूक्त के आरम्भ में 'अथ' और अन्त में 'इति' शब्द प्रयोग बाह्य के सूचक नहीं हैं ।

❀ ओ३म् ❀

प्रथम काण्ड

❀—❀—❀

प्रथम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर-स्थिर मनवाला)

देवता—वाचस्पतिः (वेद वाणी का स्वामी परमात्मा[1] वाक्-विद्या का रक्षक आचार्य[2] वाक्-शक्ति का रक्षक प्राण[3])

वक्तव्य—सूक्त में 'त्रिषप्ताः' शब्द महत्त्वपूर्ण और सन्दिग्ध है सूक्तार्थ इस पर निर्भर है इसके स्पष्ट हो जाने से सूक्तार्थ स्पष्ट हो जाता है अतः इसका विवेचन करते हैं। भाष्यकार सायण ने अथवा-अथवा करके तीन प्रकार के अर्थ किए हैं। अन्य भाष्यकारों ने भी अनेक अर्थ किए हैं। 'त्रिषप्ताः' शब्द संख्यावाचक बहुव्रीहि समास है जो अन्यपदार्थ में होता है। इसमें 'त्रि' और 'सप्त' ये दो शब्द हैं। सायण आदि विद्वानों ने 'त्रि' शब्द से जितने भी त्रिक हैं वे लिये हैं जैसे—पृथिवी अन्तरिक्ष, द्युलोक। अग्नि, वायु, आदित्य। सत्त्व, रजः, तमः,। ब्रह्मा, विष्णु, महेश,। भूत, वर्तमान, भविष्यत्। ईश्वर, जीव, प्रकृति। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय। बाल्य, यौवन, जरा। स्त्री, पुरुष, नपुंसक। वात, पित्त, कफ। अ, उ, म्। भूः भुवः, स्वः। एक वचन,

---

१ "ब्रह्म वै वाचस्पतिः" (काठक, २७। १)

२ "यो वै वाचोऽध्यक्षः स वाचस्पतिः" (मै० २। २। ५३)

३ "प्राणो वै वाचस्पतिः" (शत० ४। १। १। ९१)

द्विवचन, बहुवचन। और सप्त सब्द से जितने भी सप्तक हैं वे सब लिये हैं। जैसे—सप्तर्षि, सप्तग्रह, सप्त मरुद्गण, सप्त छन्द, सप्त दिशाए सप्त ऋत्विक्, सप्त आदित्य, सप्त सिन्धु, पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आकाश, पञ्च-तन्मात्राए-अहङ्कार। सप्तलोक, रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र। भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्, सप्तस्वर, सप्तविभक्तियां, सप्तरंग इत्यादि अर्थ 'त्रिषप्ता' के उन उन विद्वानों ने किये है। परन्तु इतने अर्थों की एक प्रकरण मे सङ्गति नहीं हो सकती।

'त्रिषप्ताः' का अर्थ 'त्रयो वा सप्त वा' ऐसा विग्रह करके कुछ त्रिक और कुछ सप्तक लिये जाएं परन्तु विग्रह में सांशयिक अर्थ की सम्भावना नही क्योंकि 'त्रि' और 'सप्त' संख्या में बहुत अन्तर है जो परस्पर समीप की संख्या में ही सम्भव है जैसे 'द्वित्राः, त्रिचतुरः'—दो तीन या तीन चार। निश्चित न दो न तीन, या निश्चित न तीन न चार। और एक पक्ष में तीन और एक पक्ष में उन्हें सात कह सकें यह समास शास्त्र के विरुद्ध है क्योंकि इस में अन्य पदार्थ की हानि है यह मार्ग भी उपादेय नहीं है।

अथवा कुछ पदार्थ हैं उन्हें एक दृष्टि में तीन भी कह सकते हैं और उन्हें ही दूसरी दृष्टि से सात भी कह सकते हैं ऐसे पदार्थ भौतिक जगत् मे लोक हैं जो लोकत्रय 'भूः भुवः-स्वः' (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक हैं) तथा उन्हें सप्त लोक भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः-सत्य' भी कह सकते हैं। शरी के अन्दर वात, पित्त, कफ, धातुत्रय भी कह सकते हैं और रस रक्त मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र सप्त भी कह कहते हैं, यह कथन प्रथम मन्त्र में तो कुछ अच्छा लगता है परन्तु पूरे प्रकरण में ठीक नहीं बैठता है।

'त्रिषप्ताः' में तीन और सात मानकर दश संख्या लेने का तो अवकाश ही नहीं यह द्वन्द्व समास का विषय है, परन्तु यहाँ तो बहुव्रीहि समास है, त्रिगुणित सात करके एक्कीस होते हैं, सो यह ठीक नहीं गुणित शब्द साक्षात् नहीं है इसका लोप मानकर समास बनाना अशास्त्रीय है अविहित है। अतः ,त्रिषप्ताः में महाभाष्य व्याकरणानुसार सुजर्थ लेना चाहिये। जो तीन आवृत्ति

करके तीनों स्थानों में सात प्रगति करते हैं। कोई विद्वान् 'सत्त्व, रजः, तमः' तीन गुणों में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पञ्चतन्मात्र, अहङ्कार को लेते हैं परन्तु यहाँ पञ्चतन्मांत्र एक नहीं सांख्य सूत्र में "पञ्चतन्मात्राणि" (सांख्य० १ । ६१) बहुवचन में हैं। इससे तो अच्छी कल्पना यह है कि प्रकृति की साम्यावस्था के सत्त्व, रजः तमः गुणों में उसके विकार-महत्तत्त्व, अहङ्कार,पञ्चतन्मात्राएं ये सात ले लेना साक्षात् घटते हैं, परन्तु यह अर्थ भी प्रकरण को पूरा नहीं करता है। अस्तु।

हम पूरे अनुवाक को एक शृंखला में बँधा हुआ देखना चाहते हैं, इस प्रथम अनुवाक में छः सूक्त हैं, पिछले ४-६ सूक्तों में तो 'आपः' (जलों) का वर्णन है, उनका देवता 'आपः' दिया भी है। तृतीय सूक्त में प्रधानता से मूत्र का वर्णन है जो कि मूत्र जल का ही रूप है, द्वितीय सूक्त मे 'शर' और उसके पिता पर्जन्य आदि देवताओं का विचार है यों तो 'शर' भी जल है "उर्ग् वैः शरः" (तैं० ६ । १ । ३ । ३ ।) "अङ्गिरों वै स्वर्गं लोकं यन्तस्ते मेखलाः मन्यविकरन् ततः शर उदतिष्ठत्" (कपिष्ठल० ३६ । १) 'शर जलम्' (मोदनी कोषे) पर्जन्य मेघ स्वयं जल रूप है ही तथापि छओ दिशाओं के पर्जन्य आदि देवताओं पृथिवी को कोटियां (धनुष-दण्ड के शिरों) तथा उनके मध्य 'आपः' अप् तत्त्व धारा ज्या—(धनुष् डोरी) के रूपक में आकर भिन्न-भिन्न दिशाओं के 'शर' अर्थात् शर की भांति प्रगतिशील या वेगशील पदार्थों को हम तक (पृथिवी तक) प्रेरित करते हैं। रहा प्रथम सूक्त इसमें 'त्रिषप्ताः' शब्द का अर्थ 'आपः' लिया जावे तो यह सारा अनुवाक एक शृङ्खला में बँध जाता है। इस प्रकार अथर्ववेद का प्रधान विषय भी निर्धारित हो जाता है 'आपः' देवता। ऋग्वेद में पृथिवी-स्थानी अग्नि, यजुर्वेद में अन्तरिक्ष स्थानी विद्युन्मय वायु, सामवेद में द्युस्थानी आदित्य देवता है। उन तीनों अग्नियों का अधिष्ठान या अभिव्यंजक सर्वस्थानी 'आपः' का वर्णन अथर्ववेद का महत्त्वपूर्ण विषय है, जलों से अग्नि प्रकट होता है यह प्रमाणित है, "अद्भ्यो वा एषोऽग्निः प्रथममाजगाम" (शत० ६ । ७ । ४ । ४) इस प्रकार प्रथम अनुवाक में

'आपः' का वर्णन हो जाने से द्वितीय अनुवाक में वर्णित अग्नि से एकसूत्रता भी हो जाती है।

मन्त्र में 'त्रिषप्ताः' शब्द का सुजर्थ व्युत्पत्ति से "सुजभावोऽभिहितार्थ-त्वात्समासे" (महाभाष्य० २ । २ । २) तीन आवृत्ति में आने वाले सात, तीन स्थानों में होनेवाले सात। जैसे "द्विदशाः" (महाभाष्यव्याकरण ३ । २ । २) दो आवृत्ति में आने वाले दश-दो स्थानों में विद्यमान दश। इस लक्षण के अनुसार 'त्रिषप्ताः' आपः है "प्रसुव आपो महिमानमुत्तमं कारु र्वोचाति सदने विवस्वतः । प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः" (ऋ० १० । ७५ । १) इस मन्त्र में स्पष्ट रूप में 'आपः' (जलों) को 'आपः·········सप्त सप्त त्रेधा प्रचक्रमुः' कहा है, तीन स्थानों में सप्त सात प्रगति करते है 'आपः' तीनों लोकों में। सायणाचार्य ने भी इसका ऐसा ही अर्थ किया है "त्रेधा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च" आपः तीनों लोकों में है "इयं पृथिवी वा अपामयनमस्यां ह्यापो यन्ति" (श० ७ । ५ । २ । ५०) "अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्" (श० ७ । ५ । २ । ५७) "द्यौ र्वा अपां सदनम्" (श० ७ । ५ । २ । ५६) इन प्रमाणों में पृथिवी को 'आपः' जलों का अयन गतिस्थान, अन्तरिक्ष को 'आपः' जलों का सधस्थ, द्युलोक को 'आपः' जलों का सदन बतलाया है, इसी अनुवाक के चतुर्थ सूक्त में भी कहा है "अभूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह "जो 'आपः' अप्तत्त्व-सूर्य में है अथवा जिनसे सूर्य प्रकाशमान होता है कहा है। इस प्रकार तीनों लोकों में प्रगति करने वाले 'आपः' अप् तत्त्वों का स्थूल रूप द्युलोक में सात रश्मियां (किरणें) अन्तरिक्ष में सप्त मरुद्गण (वायु-प्रतिधियां-वायुस्तर) और पृथिवी पर सप्त जलप्रवाह हैं। इन त्रिस्थानी अप्तत्त्वों से क्रमशः द्युलोक में सूर्य अन्तरिक्ष में विद्युत् या विगुन्मय वायु, और पृथिवी पर अग्नि, ये तीनों अग्नियां प्रकट होती हैं। तथा बल पातीं हैं। इन से 'आपः'-अप्तत्त्वों से समस्त जगत् में परमात्मा आप्त व्याप्त है, कहा भी है "तद्यदब्रवीद्‌ब्रह्म-आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि मदिदं किञ्चेति तस्मादापोऽभवन्" (गो० पू० १ । २) "अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्" (श० १ । १ । १

११।१४) वे ये ऐसे 'आपः' त्रिषप्ता नाम से यहां कहे है। अब मन्त्रार्थ करते हैं—

आधि दैविक दृष्टि में सूक्तार्थ—

ये त्रि॒ष॒प्ताः प॑रि॒यन्ति॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॒ बिभ्र॑तः ।
वा॒चस्पति॒र्बला॑ तेषां॑ त॒न्वो॑ अ॒द्य द॑धातु मे ॥ १ ॥

(ये त्रिषप्ताः) जो कि तीनों-पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में सात सात भेद से वर्तमान हुये 'आपः' अप् तत्त्व-द्युलोक में सात रश्मियां, अन्तरिक्ष में विद्युन्मय सात वायुस्तर, पृथिवी पर सात जलप्रवाह, सात, प्रकार की नदियां (विश्वा रूपाणि) सब रूपवानों या निरूपण करने योग्य उत्पन्न वस्तुओं को (बिभ्रतः) धारण और पोषण करते हुये (परियन्ति) परिक्रमण करते हैं—सब ओर गति करते हैं। (तेषां बला) उन के बलों सामर्थ्य को (मे तन्वः) मेरे शरीर में[1] (अद्य) आज-अब-निरन्तर (वाचः-पतिः) वेदवाणी का स्वामी परमात्मा (दधातु) धारण करावे-प्रविष्ट करावे।

सृष्टि में उत्पन्न 'आपः-अप् तत्त्व' द्युलोक में सात रश्मियों के रूप में समस्त ग्रह तारों को गति प्रदान करते है, अन्तरिक्ष में विद्युन्मय वायुस्तरों के रूप में सूक्ष्म कणों, तरङ्गों, मेघदलों और शब्द आदि को स्थानान्तर में जाने को मार्ग प्रदान करते हैं। पृथिवी पर वे जल-प्रवाहों के रूप में पृथिवी को सींचते हुए प्राणियों को चलने के लिये मार्ग दर्शाते हैं। इन त्रिस्थानी अप्तत्त्वों के रहते हुए परमात्मा की आराधना शरीर में तेज स्फूर्ति और जीवनीयशक्ति बनती है ॥ १ ॥

पुन॒रेहि॑ वाचस्पते दे॒वेन॒ मन॑सा स॒ह ।
वसो॑ष्पते॒ नि र॑मय॒ मय्ये॒वास्तु॒ मयि॑ श्रु॒तम् ॥ २ ॥

---

१ "सुपां सुपो भवन्तीति" सप्तमीस्थाने षष्ठी।

(वाचः-पते) हे वेदवाणी के स्वामिन् परमात्मन् ! (देवेन मनसा सह) सत्य[1] मन से या यथार्थ मनन के द्वारा (पुनः-एहि) पुनः पुनः या बारम्बार हमारे मन का अवलम्बन या लक्ष्य बन (वसोः-पते) हे सृष्टि यज्ञ के पालक[2] (मयि) मेरे शरीर में (एव) ही-निश्चय (निरमय) उन 'आपः' अप्तत्त्वों के बलों को निरन्तर सात्म्य कर अङ्गीभूत कर (मयि) मेरे अन्तः करण में (श्रुतम्) उनका श्रवण ज्ञान (अस्तु) हो-स्थिर हो ॥ २ ॥

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि-यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

(इह-एव) इसी मेरे जीवन में (उभे) पूर्वोक्त अप्तत्त्वों के बल और ज्ञान दोनों (ज्यया) धनुष में लगी डोरी (आर्त्नी-इव) जैसे दोनो ओर दण्ड सिरों को (अभि वितनु) सङ्गत करती है वैसे सङ्गत करे-संयुक्त करे । तथा (वाचस्पतिः) परमात्मा (मयि-एव) मेरे मे अवश्य (नियच्छतु) नियन्त्रित करे, और (मयि) मेरे मे (श्रुतम्) ज्ञान हो ॥३॥

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥

(वाचः-पतिः) वेद वाणी का स्वामी परमात्मा (उपहूतः) जब भी हमारे द्वारा अपनाया गया हो-जब भी हमने उसे अपनाया हो, (वाच - पतिः) वह परमात्मा (अस्मान्-उपह्वयताम्) हमें अपनाता है, ऐसे अपनाने वाले को (श्रुतेन) श्रवण से-श्रवण चतुष्टय से श्रवण मनन निदिध्यासन साक्षात्कार से (सङ्गमेमहि) सङ्गति में लावें सम्प्राप्त करें (श्रुतेन मा विराधिषि) मैं श्रवण से विमुक्त न होऊँ ॥ ४ ॥

---

१ "सत्यमेव देवाः" (श० १ । १ । १ । ४)
२ "यज्ञो वै वसुः" (श० १ । ७ । १ । ९)

आध्यात्मिक अर्थात् शरीरान्तर्गत दृष्टि में सूक्तार्थ 'त्रिषप्ताः' वात-पित्त-कफ में संसक्त होने वाले रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र पदार्थ समस्त प्राणियों को धारण पोषण करते हुए रचनाक्रिया में परिवर्तित होते रहते हैं आप्त व्याप्त रहते हैं उनके बलों को मेरे शरीर मे निरन्तर शरीरयन्त्र का चालक हृदयस्थ प्राण "प्राणो वै वाचस्पतिः" शरीर में धारण करावे ॥ १ ॥

हे प्राण तू दिव्य मन के साथ शरीर में पुनः पुनः गति कर, हे शरीरयज्ञ को बसाने वाले चालक मेरे अन्दर मेरे शरीर में धातुओं के बलों को निरन्तर रमण करा तू भी रमण कर, तेरा श्रवणीय शब्द 'लुप् डप्' ध्वनि ठीक बनी रहे, हृदयगति भङ्ग न हो ॥ २ ॥

इसी शरीर धनुष् मे बन्धी डोरी द्वारा कोटियों की भांति हृदय के दोनों सिरों को रक्त प्रवेश और रक्त-निकास के भागों को दोनों ओर फैला सङ्गतकर, आप प्राण मेरे शरीर में अवश्य नियन्त्रण करता रहे, मेरे शरीर में श्रवण ध्वनि रहे ॥ ३ ॥

प्राण हमारे द्वारा श्वासोच्छ्वासों से सेवित हुआ हमें भी प्राण उपयुक्त करता है स्वस्थ बनाता है उसके सुनने योग्य गति ध्वनि के साथ जीवन चले उससे मैं विमुक्त न होऊं ॥ ४ ॥

आधि भौतिक (व्यावहारिक) दृष्टि में सूक्ताशय—

जो वेदत्रयी-विद्यात्रयी में ज्ञान कर्म उपासना में गायत्री आदि सात छन्द दिव्यवचन सारे रूपों-निरूपणीयतत्त्वों विषयों को धारण करते हुए परिबद्ध करते हैं परिप्राप्त करते हैं उनके बलों को-लाभों को मेरे शरीर मे-ज्ञानद्वारा मन में आज-इस जीवन मे-वाक्पति आचार्य धारण करावे-समझावे ॥ १ ॥

हे आचार्य ! तू अपने दिव्य मन के साथ बार बार आ निरन्तर आ, हे वसाने वाले विद्यातत्त्वों के स्वामिन् ! तू अवश्य उन वेद विद्याओं को मेरे अन्दर रमण करा मेरे में श्रवण किया हुआ वचन स्थिर हो ॥ २ ॥

इसी मेरे जीवन में धनुष् में बन्धी डोरी द्वारा कोटियों की भाँति इस लोक में तथा परलोक अभ्युदय और निःश्रेयस को सङ्गत-विस्तृत कर मेरे में सुना हुआ स्थिर रहे ॥ ३ ॥

विद्वान् आचार्य हमारे द्वारा स्वीकृत किया हुआ अपनाया हुआ वह आचार्य हमें भी अपनाता है, पुनः श्रवण किए विषय से हम संयुक्त हों उस श्रवण से मैं विमुक्त न होऊँ ॥ ४ ॥

द्वितीय और तृतीय सूक्त

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—पर्जन्यादयः (मेघ आदि मन्त्रों में कहे)

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥ १ ॥
ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥ २ ॥
वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥
यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां
ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ १ ॥

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां
ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ २ ॥
विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां
ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥
विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां
ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥
विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां
ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥
यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रितम् ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ९ ॥
यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ८ ॥

वक्तव्य—पूर्व सूक्त मे वर्णित 'आपः' अप् तत्त्व के रूप में परिभ्रमण करते हुए छओं दिशाओं के देवताओं और हमारी पृथिवी के मध्य ज्या

(धनुष् की कोटियों में डोरी) बनकर 'शर' (इषु-बाण) फेंकते हैं। वे शर (इषु) उन उन दिशा सम्बन्धी देवताओं की दिव्यशक्ति के फलस्वरूप हैं उनका वर्णन (अथर्व० ३ । २७ । १-६ । "प्राची दिगग्निरधिपतिरसिती रक्षिताऽऽदित्या इषवः" इत्यादि मन्त्रों में आता है। इनको फैंकने वाली डोरी 'आपः'-अप् तत्त्व धाराएं दिशा के भेद से किस किस को कोटि बनाते है यह रूपक द्वितीय तृतीय सूक्त में है द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के पूर्वार्द्ध से समस्त मन्त्रों के पूर्वार्द्ध का प्रथम सूक्त के द्वितीय आदि मन्त्रों के साथ सम्बन्ध रखते हैं तथा तृतीय सूक्त के मन्त्रों के उत्तरार्द्ध भी पुनः पुनः पढ़े है पुनरावृत्ति न कर एकीकरण बनाकर अर्थ करते हैं पुनः शिष्ट मन्त्रों का अर्थ करेंगे—

विद्मा शरस्यं पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् । [अथर्व० १ । २ । १]
" " " पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् । [अथर्व० १ । ३ । १]
मित्रं शतवृष्ण्यम् । [अथर्व० १ । ३ । २]
वरुणं शतवृष्ण्यम् । [अथर्व० १ । ३]
चन्द्रं शतवृष्ण्यम् । [अथर्व० १ । ४]
सूर्यं शतवृष्ण्यम् । [अथर्व० १ । ३ । ५]
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् । [अथर्व० १ । २ । १]

(शरस्य पितरम्) अधोदिशा से आने वाले वीरुध-ओषधि रूप शर-इषु[1] को (भूरिधायसं पर्जन्यम्) ओषधि आदि प्रजा के धारक पृथिवी के अन्दर वर्तमान अग्नि को[2] एवं (शतवृष्ण्यं पर्जन्यम्) ऊर्ध्वा दिशा के[3] बहुत

१. "ध्रुवादिक्"........वीरुध इषवः ।
२. "पर्जन्यो वा अग्निः" [श० ४ । ९ । १ । १३]
३. "ऊर्ध्वं दिक्".........वर्षमिषवः" ।

बरसाने वाले स्तनयित्नु नामक गर्जने वाले अभ्रमण्डल को[1] (मित्रम्) दक्षिण दिशा में प्राप्त होने वाले ऋतुरूप शर के जनक वायु को[2] (वरुणम्) उत्तर दिशा से व्याप्त होने वाली विद्युद्धारा रूप शर के जनक ध्रुव अर्थात्

---
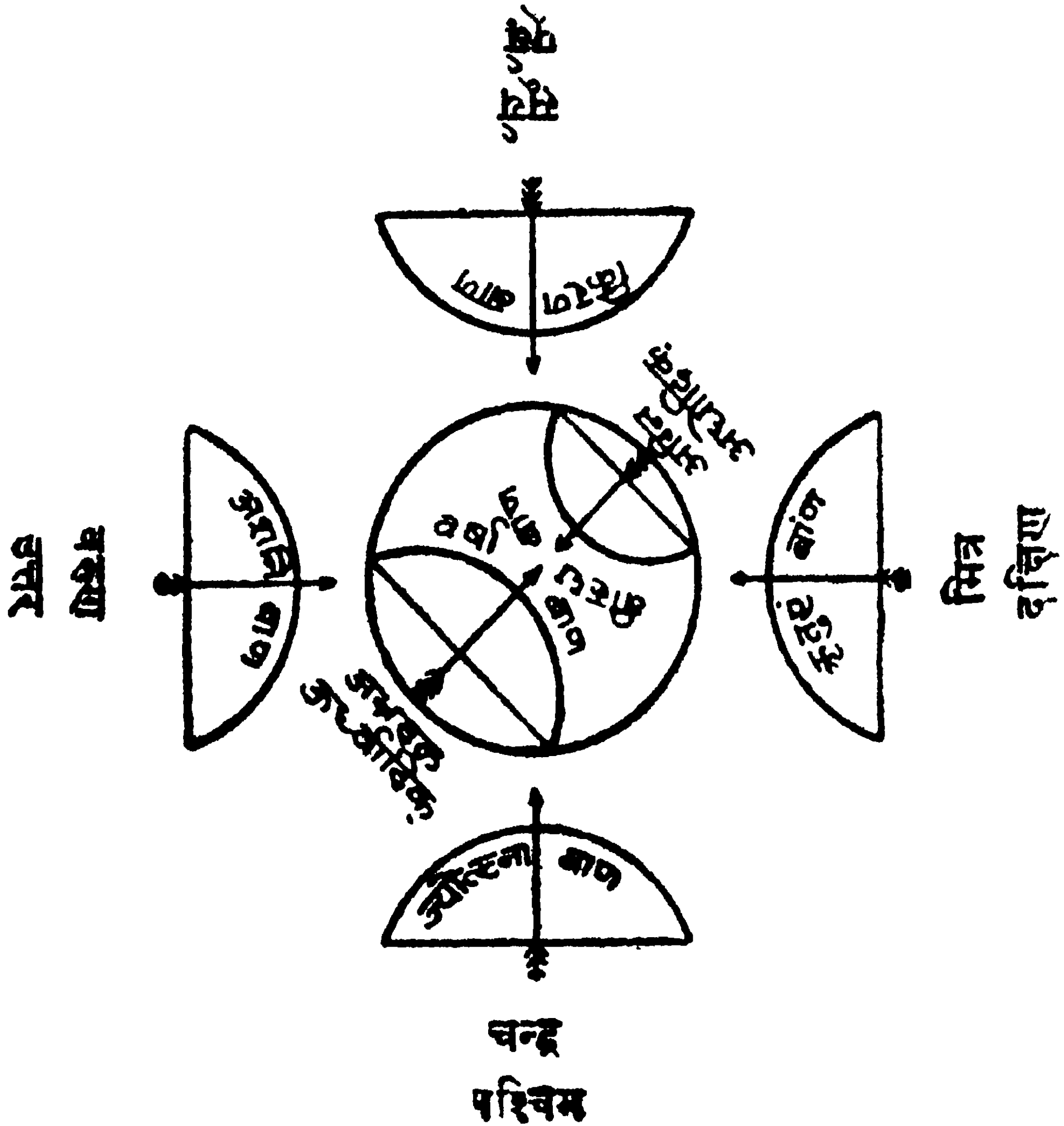
१. "पर्जन्यो मे मूर्ध्निश्रितः" [तै० २ । १० । ८ । ८ । "क्रन्दतीव पर्जन्यः" [श० ६ । ७ । ३ । २] "पर्जन्यः स्तनयन्" हन्ति दुष्कृतम् [ऋ० ५ । ८३ । २]

२. "दक्षिणादिक्·········पितर इषवः" ऋतवः पितरः [श० २ । ४ २ । १४] "अयं वै वायु मित्रः योऽयं पवते" [श० ६ । ५ । ४ । १४]

आकर्षक विद्युद्भण्डार को[1] (चन्द्रम्) पश्चिम दिशा से उठने वाले चन्द्रिका रूप शर के जनक चन्द्र को[2] (सूर्यम्) पूर्व दिशा से आने वाले किरण रूप शर के जनक सूर्य को[3] (विद्म) हम जानते हैं, तथा (अस्य मातरम्) इसकी धारण-करने वाली मांता (भूरिवर्पसं पृथिवीम्) बहुरूपा[4] पृथिवी को (सु) भली प्रकार (उ) अवश्य (विद्म) हम जानते हैं ॥

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वे कृधि ।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषास्यां कृधि ॥ [अथर्व० १।२।२]

(ज्याके) हे ज्यासदृश-धनुष् डोरी के समान* अप् तत्त्व धारा तू (नः) हमारे लिये (परि-नम) मृदु सुख साधिका के रूप में परिणत हो-सर्वथा झुक (तन्वम्) हमारे शरीर को (अश्मानम्) सुदृढ रोग आदि से अबाध्य (कृधि) कर (वीडुः) वल-वलवती होती हुई† (अरातीः) सुख न देने वाली बाधाओं को, और (द्वेषांसि) द्वेष करने योग्य रोगों को (वरीयः) अत्यधिक-बहुत ही (अप-आकृधि) पृथक् कर ॥ १ । २ । २ ॥

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

(यत्) कि जिसप्रकार (गावः) ज्या-धनुष् की डोरियों के समान अप्तत्त्व धाराएं (वृक्षम्) धनुर्दण्ड को-कोटियों को धनुष् के दोनों सिरों

---

१. "उदीची दिक्·······अशनिरिषवः"
२. "प्रतीची दिक्·······अन्नमिषवः "अन्नं वै चन्द्रमाः" [श० ८ । ६ । ११]
३. "प्राची दिक्·······आदित्या इषवः" ।
४. "वर्प इति रूपानाम" [निघ० २ । ७]
* "इवार्थे कन्" [अष्टा० ५ । ३ । ९६]
† "वीडु बलवाम्" [निघ० २ । ९]

को-उनके समान द्यावापृथिवी को द्युलोक पृथिवी लोक को[1] (परिषस्वजाना:) आलिङ्गन करती हुई (ऋभुं शरम्) तीक्ष्ण वाण को (अनुस्फुरम्) प्रेरणानुकूल (अर्चन्ति) फेंक सकें, वैसे (इन्द्र) हे दोष दूर करने वाले परमात्मन् (दिद्युम्) चमचमाते हुए (शरुम्) हिंसक को (अस्मत्) हमारे लिये[2] । (यावय) जोड[3] ।

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥

(यथा) जैसे (द्यां च पृथिवीं च-अन्तः) द्युलोक और पृथिवी के बीच (तेजनम्) उनका प्रेरक अप् तत्त्व (तिष्ठति) रहता है (एव) वैसे ही (रोगों च-आस्तवं च- अन्तः) ऊर्ध्व रोग और अधो अङ्गगत कष्ट के बीच (मुञ्जः इत्) उनका प्रेरक ओषधिरूप अप् तत्त्व[4] (तिष्ठतु) रहे ॥ ४ ॥

तेनां ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां
ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

(अथर्व० १ । ३ । १-५ पञ्चकृत्वः)

(तेन) उस ओषधि वर्षा आदि रूप वाण से (ते तन्वे) हे पात्र ! या यजमान ! तेरे जरीर में (शङ्करम्) सुख पहुँचाता हूँ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते निषेचनम्) तेरा दोष आवे (ते बालिति बहिः-अस्तु) वह तेरा शीघ्र बाहर आवें ॥ १-५ ॥

---

१ "ज्यापि गौरुच्यते वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौः, वृक्षे वृक्षे धनुषि-धनुषि" [निरू० २ । ६]

२ "सुपा सु लुक्........" (अष्टा० ७ । ३ । ३९) इति लुक् । चतुर्थीविय क्तलुक् ।

३ "युमिश्रणामि श्रणयोः" (अदादि)

४ "ऊर्वा मुञ्जाः" (तै० ३ । ८ । १ । १)

आशय—इन मन्त्रों में धनुष् का सुन्दर रूपक है, सर्वान्तर्यामी विभुदेव परमात्मा वाण वर्षक है—इस पृथिवी पर वह अपने वाण छओं दिशाओं से फेंकता है और दिशाओं के सूर्य आदि देवता और पृथिवी छः धनुष कोटियां हैं, इन कोटियो के मध्य में ईश्वर के रचे पूर्व सूक्त में कहे "आपः" अप् तत्त्व धाराएं "उक्त छओं धनुषों की ज्याएं डोरियां हैं, इन डोरियों के द्वारा प्रेरित किये जाने वाले-फेके जाने वाले छओं दिशाओं से आने वाले ओषधि, वर्षा, ऋतुएं, चुम्बकीय विद्युद् धाराए, चन्द्रिकाएं, और किरणे ये छः वाण हैं, इन वाणों के जनक उन छओं दिशाओं के अग्नि, अभ्रमण्डल, मित्र (वायु-केन्द्र), वरुण (ध्रुव-आकर्षक विद्युत्केन्द्र) चन्द्र, सूर्य देवता है। उक्त वाणों को धारण करने वाली पृथिवी है वाण फेंकने वाली इन्द्रशक्ति है इस रूपक से ध्वनित होता है कि माता पिताओं के अन्दर भी इन्द्र-शक्ति (जीवात्मत्वशक्ति) होती है और सन्तति बीज की प्रेरक है। यदि माता पितृरूप कोटियों के मध्य ज्या रूप अप् तत्त्व धाराएं शरीर गत रस धाराएं शरीरगत रस धाराएं एवं परस्पर दोनों को बान्धने वाली-एक दूसरे को खींचने वाली शक्तियां और गुण हों तो उत्तम सन्तान का जन्म होता है। दूसरी बात रूपक में यह बताई है कि उक्त छओं दिशाओं में ओषधि, वर्षा आदि वाणों को फेंकने वाली 'आपः सर्वत्रव्याप्त' अप् तत्त्व धाराएं यथावत् ज्ञान से हमारे शरीर को पुष्ट करती हैं, रोग तथा रोगजन्तुओं को हटाती है उन अप् तत्त्वों को मानो ये ओषधि आदि गण एक प्रकार से उनका तेज है। जो शरीर के अन्दर से दोष शीघ्र दूर करके ऊपर नीचे के दोनों प्रकार के रोगों को हटाता है॥ अथर्व० १। ३। १-५॥

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रितम्। एवा ते० ॥ ६ ॥

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव। एवा ते० ॥ ७ ॥

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव। एवा ते० ॥ ८ ॥

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ९ ॥

(आन्त्रेषु) अन्त्रों-आन्तों के समीप अर्थात् गुदा के नाडीतन्तुओं में[1] (गवीन्योः) दोनो मूत्र प्रणालियो में (वस्तौ) मूत्राशय मे (अधिसंस्रुतम्) झिर-झिर कर आया हुआ तथा (वेशन्त्याः) रुके जलाशय-झील के (वर्त्रम्- इव) बहने से रोकने वाले बान्ध की भांति (ते मेहनम्) तेरे रुके हुए मूत्राशय द्वार को (प्रभिनद्मि) विकसित करता हूँ—खोलता हूँ, और (समुद्रस्य) उत्प्लुत अर्थात् भरपूर किनारों से बाहिर निकलने को उद्यत् (उदधेः-इव) तालाब की भांति (ते वस्तिबिलम्) तेरा मूत्रपात्र-मूत्राशय मुख (विषितम्) आवरण रहित-रुकावट रहित हो, और (यथा) जैसे (अधिधन्वनः) नमाई हुई धनुष् से (अवसृष्टा-इषुका) छुटा हुआ वाण (परापतत्) अति वेग से दूर गिरता है (एव) ऐसे ही (ते मूत्रम्) तेरे जितना मूत्र है (सर्वकम्) प्रायः सब ही (बालिति) वेग से स्फुरित ध्वनि करता हुआ (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) छूट जावे ॥

आशय—रुके मूत्र को निकालने के लिये, प्रथम जल भरी झील के बान्ध को तोड़ने के समान भरे मूत्राशय द्वार का भेदन करना सूए या पिचकारी से खोल मूत्र निकाल लेना । द्वितीय भरे हुए किनारों से बाहिर आने को उद्यत जलाशय के समान मूत्राशय की मांस पेशियों को नरम बना कर ऊपर से मालिश कर या जल बरसाकर मूत्र निकालना । तृतीय जैसे धनुष् द्वारा वेग भरा वाण वेग से दूर गिर पड़ता है ऐसा गुदा और मूत्राशय नालियों को गरम वाष्प दे उत्तेजित कर मूत्र बाहिर निकालना । चतुर्थ मूत्राशय को औषधि से तरङ्गित कर मूत्र बाहिर निकालना । किन वस्तुओं उपचारों के द्वारा मूत्र बाहिर निकाला जा सकता है सो ऊपर कहे मन्त्रों से पूर्व द्वितीय सूक्त में दिए दिशाओं से प्राप्त होने वाले 'अग्नि, मेघ, वायु,

---

१ "अदूरभवश्च" [अष्टा० ४ । २ । ७०] ।

विद्युत, सूर्य, चन्द्र इन छः देवताओं से प्रेरित हुए ओषधि, वर्षा, ऋतुएं, विद्युत्-धाराओं, किरणों, चान्दनी के विशेष उपयोग मूत्र बन्ध को दूर करना कहा, उनका उपयोग विशेष यन्त्रों साधनों द्वारा होना चाहिए ॥ ६-९ ॥

आधिभौतिक-व्यावहारिक दृष्टि में द्वितीय सूक्त तथा तृतीय सूक्त के पञ्च मन्त्र में एक सांग्रामिक विषय है आगे छटे सूक्त तक पूर्ववत् ।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिवर्पसम् ।
पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।
सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ।

(शरस्य) हिंसित करने वाले वाण, गोली यन्त्र आदि अस्त्र साधन के (पितरम्) जनक-प्रेरक अग्नि, सूर्य, विद्युत् को हम जानते हैं और उनकी जननी पृथिवीं को भी जानते हैं ।

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।
वीडुवरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठाति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥

तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं ।
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

हे प्रिय ज्या या ज्या के समान अस्त्र फेंकने वाली स्प्रिंग आदि कला ! तू वाण गोली आदि को परिणत हो स्प्रिंग ज्या हमारे शरीर को पत्थर जैसा अचल करदे-बनादे, तू बलवती होती हुई हमें सहायता न देने वाले विघ्न कारियों को तथा द्वेष करने वाले शत्रुओं को तिरस्कृत कर ।

कि जैसे धनुष् की डोरियों के समान स्प्रिंग आदि धनुर्दण्ड को-स्प्रिंग दण्ड को आलिङ्गन करती हुई शुभ्र बाण गोली आदि को प्रेरणा के अनुकूल फेंक सके, जो विद्युत् शक्ति-साक्षात् बल की मूर्ति ! तू तडतडाते हुए वज्र को[२] हमारे लिये हमारे प्रयोजन के लिये युक्त कर और छोड़ दे, अथवा हमारे[१] से छुडा ।

जैसे द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य मे उनका प्रेरक सूर्य तेज रहता है ऐसे ही परपक्ष के फैंके वाण आदि की पीडा और उससे निकले रक्त प्रवाह के मध्य प्रेरक संशोधन उपचार[३] अवश्य रहे ।

उस संशोधन साधन से हे हमारे सैनिक ! तेरे-शरीर के लिये सुख पहुँचाता हूँ—स्वास्थ्य प्रदान करता हूँ पृथिवी पर बाहिर तेरा दोषकारक वाण आदि तेरे स्वास्थ्य के लिये शीघ्र बाहिर आवे ॥

आशय—बन्दूक तोप आदि अस्त्र अग्नि आदि से बनाने और छोड़ने चाहिए तथा विद्युत्-शक्ति उन्हें फेंकती है ॥

---

१ "विद्युद् वज्रनाम" (निघ० २ । २०) ।

२ "सुपां सुलुक्" (अष्टा० ७ । ३ । ३९) विभक्तेलुंक् ।

३ "सुञ्जशुद्धौ" [ ]

आगे पूर्ववत् ।

चतुर्थ सूक्त

ऋषिः—सिन्धुद्वीप-कृतिर्वा (स्यन्दमान है दोनों ओर लोक परलोक-भोग अपवर्ग-अभ्युदय निश्रेयस जिसके ऐसा विद्वान् या कर्म करने मे समर्थ ।

देवता—आपः (अप्तत्त्व धाराए) जलप्रवाह धाराएं ।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

(अध्वरीयताम्) सृष्टि यज्ञ चाहने वालों के (अम्बयः) शब्द करने वाले[1] (जामयः) आपः-प्रवाहित-जल नदियां[2] (मधुना) स्वजल से[3] (पयः) पृथिवी पर अन्न को[4] (पृञ्चतीः) संयुक्त करती हुई (अध्वभिः) स्व स्व मार्गों से (यन्ति) चलती-बहती है ॥ १ ॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

(याः) जो (अमूः) वे आपः-अप्तत्त्व (उप सूर्ये) सूर्यमण्डल में (वा) और[5] (याभिः सह) जिन किरणरूप अप्तत्त्वों के साथ (सूर्यः) प्रकाशमान है । (ताः) वे अप्तत्त्व (नः) हमारे (अध्वरम्) शरीरयज्ञ या अहिंसनीय आत्मतत्त्व को (हिन्वन्तु) प्रेरित करें-उत्कृष्ट करें ॥ २ ॥

---

१ "अबि शब्दे" [भ्वादि०]
२ "जामि-उदकनाम" [निघ० १ । १२]
३ "मधु-उदकनाम" [निघ० १ । १२]
४ "पयः-अन्न नाम" [निघ०२। ७]
५ "वा समुच्चयार्थे" [निरु० १ । ५]

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥

(यत्र) जहाँ (नः) हमारे (गावः) गौ आदि पशु (पिबन्ति) जल पीते हैं उन पृथिवीस्थ (अपः-देवीः) उत्तम जलों को (उपह्वये) उपाहारित करता हूँ—उद्घाटितकरता हूँ (सिन्धुभ्यः) बहने वाले जलों के लिये या बहने वाले ज ों से (हविः कर्त्वम्) होम दान संशोधन करना चाहिए ॥ ३ ॥

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो
गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

(अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर (अमृतम्) दीर्घ जीवन है (अप्सु) जलों में (भेषजम्) रोगनिवारक गुण है-औषध है-चिकित्सा कर्म है (उत) और (अपाम्) जलों के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) घोड़े, (वाजिनः) बलबती (भवथ) होओ बनो (वाजिनीः) बलबती (भवथ) होओ-बनो (गावः) गौओ ॥ ४ ॥

पञ्चम सूक्त

ऋषि देवते-पूर्ववत् ।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

(ताः) वे तुम (आपः) जलो (मयः-भुवः) सुख सम्पादक (हि) निश्चय (स्थ) हो (नः) हमें (ऊर्जे) जीवन बल के लिये (महेरणाय-चक्षसे) महान् रमणीय दर्शन के लिये (दधातन) धारण करो ॥ १ ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

(वः) हे जलों ! तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः) कल्याणसाधक (रसः) रस है (तस्य नः) उसका हमें (इह) इस शरीर में (उशतीः-इव मातरः) चाहती हुई माताओं के समान (भाजयत) सेवन कराओ ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

(यस्य) जिस रस के (क्षयाय) हमारे अन्दर सस्थापन करने के लिये (आपः) हे जलों ! (जिन्वथ) हमें तृप्त करते हो (तस्मै) उस उसके लिये-उसकी प्राप्ति के लिये (वः) तुम्हें (अरं गमाम) पूर्ण रूप से सेवन करें, (च) और (नः) हमें आपः- (जनयथ) जहाँ उत्पन्न भी करते हो ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

(वार्याणाम्) वरणीय-उत्तम गुणों के (ईशानाः) स्वामी रूप (चर्षणीनाम्) मनुष्य आदि प्राणियों के (क्षयन्तीः) बसाने वाली (अपः) जल (भेषजम्) औषध को (याचामि) चाहता हूँ उपयुक्त करता हूँ ॥ ४ ॥

षष्ठ सूक्त

ऋषि देवते-पूर्ववत् ।

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

(देवी:) दिव्यगुण वाले (आपः) जल (नः) हमारी (अभिष्टये) स्नान क्रिया के लिये एवं अभिकांक्षा के लिये तथा (पीतये) पान क्रिया एवं तृप्ति के लिये (शं भवन्तु) कल्याण कारी हों (शंयो:) सुख की वृष्टि या वर्तमान रोगों की शान्ति और भावी रोग भयों के अभाव निवृत्ति को[1] (नः) हम पर (अभिस्रवन्तु) सब ओर से रिसावें बहावें वर्षावें ॥ १ ॥

अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा ।
अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वश॑म्भुवम् ॥ २ ॥

(सोम:) उत्पादक परमात्मा ने (मे) मेरे लिये (अब्रवीत्) उपदेश दिया है कि (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर (विश्वानि भेषजा) समस्त औषध है (विश्वशम्भुवम्) संसार के कल्याणसाधक (अग्निं च) और अग्नि को गरम जल में भाप में प्रयुक्त करना भी बताया है (आपः-विश्व-भेषजीः) स्वयं जल समस्त औषधें हैं ॥ २ ॥

आपः॑ पृणी॒त भे॑ष॒जं वरू॑थं त॒न्वे॒३ मम॑ ।
ज्योक् च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ३ ॥

(आपः) हे जलों ! (मम तन्वे) मेरे शरीर के लिये (वरूथ भेषजम्) रोग निवारक औषध को (पृणीत) दो-सम्पादन करो[2] (ज्योक् च) चिरकाल तक (सूर्यं दृशे) सूर्य को देख सकूँ ॥ ३ ॥

---

१ "शंयोः शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्" [निरु० ४ । २२]
२ "पृणाति दानकर्मा" [निघ० ३ । २०]

शं न आपो धन्वन्याः३ शमु सन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

(धन्वन्याः-आपः) मरुदेशवाले जल (नः) हमारे लिये (शं सन्तु) कल्याणकारी हों (खनित्रिमाः-आपः) खोदे हुए कूएं बावड़ी के जल (नः शम्) हमारे लिये सुखसाधक हों (याः) जो जल (कुम्भे-आभृताः) घड़े पात्र में भरे हैं वे (शम्-उ) अवश्य सुखसाधक हों (वार्षिकीः) वर्षा से प्राप्त जल (नः) हमारे लिये (शिवाः सन्तु) शान्ति प्रद हो ॥ ४ ॥

सप्तम से दशम सूक्त का विषय

वक्तव्य—गत षष्ठ सूक्त में "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्" [अथर्व १। ६। ३] जलों में सब भेषज हैं अग्नि भी है यह चिकित्सा को सूचित करता है एवं सप्तम से दशम सूक्त तक का विषय इसी प्रकार का है कारण कि आगे एकादश सूक्त में "वषट्ते पूषन्नस्मिन् सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः" प्र सूति रोग की चिकित्सा का वर्णन है इन बीच के सूक्तों का विषय चिकित्सा जानना चाहिए। होमाग्नि और होमवायुः चिकित्सा में उपयुक्त है अन्यत्र वेद में कहा है "मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम्। अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्। ग्राही जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ॥" [ऋ० १० । १६१। १] चिकित्सक कहता है हे रोगी! मैं तुझे हवि-होम द्वारा जीवन के लिये अज्ञात रोग से तथा राजयक्ष्म से छुड़ाता हूँ और यदि ग्राही मन को पकड़ने वाली व्याधि हिस्टीरिया उन्माद आदि ने पकड़ा है तो इन्द्र (होम वायु) अग्नि (होमाग्नि) छुड़ा देते हैं। दोनों अग्नि और इन्द्र का यहाँ भी वर्णन है, तथा हवि का भी इस सूक्त में "अथेदमग्ने नो हविः" [अथर्व० १। ७। ३] कथन है और अगले अष्टम सूक्त में "इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्"

[अथर्व० १ । ८ । १] में भी 'हविः' शब्द प्रयुक्त है साथ ही दशम सूक्त में मुञ्चामि शब्द का प्रयोग भी है "मुञ्चामि वरुणादहम्" [अथर्व० १ । १० । ३] वरुण जलोदर रोग से छुड़ाता है । अतः ये सप्तम से दशम सूक्त का वर्णन होम चिकित्सा का है । अन्य अग्नि आदि के विशेषण आलङ्कारिक है तथा रोगों के नाम भी विशेषण निर्वचनीय हैं । अब क्रमशः सूक्तों के अर्थ देते हैं ।

सप्तम सूक्त

ऋषि —चातनः (नाशक-अस्वास्थ्यनाशक[1] चिकित्सक)

देवता—१, २, ४ (अग्निः ३ इन्द्रः (होमाग्निः, होमवायुः) ।

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥

(अग्ने) हे होम में प्रयुक्त अग्नि ! तू (यातुधानं-किमीदिनंस्तुवानम्-आवह) यातना-पीड़ा के आधान-पीड़ा पहुंचाने वाले 'किम्-इदानी चरते' क्या इस समय चरण करने जीने को निः सत्त्व करने वाले या क्या यह क्या यह होगया जीवन से निराश करने वाले[2] या 'किमदिने' सब कुछ खाकर क्या खाऊँ ऐसे रोग जन्तु के लिये[3] होमताप से गिड़गिड़ाते हुए रोग जन्तुओं को शरीर से बाहिर ले आ-निकाल, (वन्दितः, देव) हे वन्दनीय प्रशंसनीय देव (त्वं हि) तू ही (दस्योः-हन्ता बभूविथ) शरीर के क्षीण करने वाले उस रोग जन्तु को नष्ट करने वाला है । १ ॥

---

१ "चातयति नाशनकर्मा" [निरु० ६ । ३०]

२ "किमीदिने किमीदानीमिति चरते किमिदं किमिदमिति वा" [निरु० ६ । ११]

३ "अकारस्य स्थाने छान्दस इकारः"

आज्यस्य परमेष्ठिञ्जातवेदस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

(परमेष्ठिन् तनूवशिन् जातवेदः-अग्ने) हे परमश्रेष्ठ यज्ञस्थल में रहने वाले समस्त तनुओं को ताप से स्ववश करने वाले जात-उत्पन्न प्रकट होते ही जाने वाले अग्नि देव ! (यातुधानान्-विलापय) पीड़ा धारण कराने वाले रोग जन्तुओं को विनष्ट कर (तौलस्य-आज्यस्य प्राशान) तुला तुलना में प्रतीकार में समर्पित किए घृत-घृताहुति को खा सेवन कर ॥ २ ॥

विलपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः ।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

(यातुधानाः) पीडा धारण कराने वाले (ये-अत्त्रिणः किमीदिनः) जो हमारा मांस आदि खाने वाले सब खाकर क्या इस समय खाएं या क्या क्या खाएं या निःसत्त्व बनाकर क्या खाएं करने वाले रोगजन्तु (विलयन्तु) विलाप करें-तड़पें (अथ) बस अब (अग्ने-इन्द्रः-च) तू अग्नि और इन्द्र-वायु[1] (नः-हविः) हमारे अग्निहोत्र को[2] (प्रति हर्यतम्) तुम दोनों स्वीकार करो[3] ॥ ३ ॥

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।
ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

(पूर्वः-अग्निः-आरभताम्) प्रमुख अग्नि रोगजन्तुनाशन कार्य आरम्भ करे ताप द्वारा (बाहुमान्-इन्द्रः-प्र-नुदतु) बाहक-दूरी करण शक्तिमान् इन्द्र-वायु रोग जन्तु को अत्यन्त दूर फेंके (सर्वः-यातुमान्) सब यातना वाला-पीड़ा देने वाला रोगजन्तु (एत्य-ब्रवीतु) बाहिर आकर-शरीर

---

१ "यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः" [काठ० ३३ । ४]

२ "हविर्वा एतदग्निहोत्रम्" [काठ० ६ । ४]

३ "हर्य गतिकान्त्योः" [भ्वादि०] प्रति पूर्व हर्यधातुः स्वीकारार्थः ।

से बाहिर आकर बोले-कहे (अयम्-अस्मि-इति) कि यह मैं शरीर से बाहिर ताड़ा हुआ आ गया हूँ ॥ ४ ॥

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः ।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्
त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥

(नृचक्षः-जातवेदः) मनुष्यो को दिखाने-मार्ग दिखाने वाले प्रकट होते ही जानने योग्य हे अग्नि ! (ते वीर्यं पश्याम) तेरे तापबल को हम देखते हैं (नः यातुधानान् प्रब्रूहि) हमारे पीडक रोगजन्तुओं को फटकार दे (त्वया सर्वे परितप्ताः प्रब्रुवाणाः) तेरे से सब परितापित हुये गिडगिडाते हुए (पुरस्तात्) तेरे सामने (इदम्-उप-आयन्तु) इस अग्निहोत्र धूम को प्राप्त हों ॥ ५ ॥

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे ।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

(जातवेदः-अग्ने) हे प्रसिद्ध होते ही जानने योग्य अग्नि ! तू (आरभस्व) अग्निहोत्र को आरम्भकर (अस्माक-अर्थाय) हमारे[1] प्रयोजन के लिये (जज्ञिषे) तू प्रसिद्ध हुआ या प्रसिद्ध किया गया है (दूतः-भूत्वा) रोग दूरकर्ता[2] बनकर (यातुधानान्-विलापय) पीडा के आधार पीडा देने वाले रोगजन्तुओं को विलापित कर ॥ ६ ॥

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

---

१ "अन्तलोपश्छान्दसः"

२ "दूतो वारयतेर्वा" [निरु० ५ । १]

(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उपबद्धान् यातुधानान्) उपबद्ध-उपरुद्ध-निःसत्त्व हुए मूर्च्छित हुए पीडक रोग जन्तुओं को (इह-आवह) यहाँ बाहिर लेआ (अथ) पुनः (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) अपने वेग रूपवज्र से या अपने ओजरूप वेग से[1] (एषां शीर्षाणि वृश्चतु) इनके प्रधान अङ्गों या प्राणों को[2] नष्ट करे[3] ॥ ७ ॥

अष्टम सूक्त

ऋषिः—चातनः (रोगजन्तुनाशक जन) ।

देवता—१, २ वृहस्पतिरग्नीषोमौ च (सूर्य अग्नि और चन्द्रमा, ३, ४ अग्निः (होमग्नि) ।

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

(इदं हविः) यह अग्निहोत्र (यातुधानान्) पीडा के आधान-पीडा देने वाले रोग जन्तुओं को (नदी-फेनम्-इव-आवहत्) जैसे नदी फेन को समन्त रूप से बहाकर ले जाती है ऐसे कही से कहीं दूर-अदृश्य रूप में विनष्ट करदे (स्त्री-पुमान्-यः इदम्-अकः) स्त्री पुरुष इस अग्निहोत्र को करे (सः-जनः-इह-स्तुवताम्) वह जन इस रोगजन्तु ग्रस्त के पास में अग्निहोत्र का सेवन करे ॥ १ ॥

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत ।
बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥

---

१ "वज्रो वा ओजः" [श० ८ । ४ । १ । २०]

२ "तदायतनो वै प्राणो यच्छिरः" [जै० २ । १८]

३ "वृश्चति वधकर्मा" [निघ० २ । १९]

(अयं स्तुवानः) यह रोगजन्तुओं से विमुक्त हुआ प्रशंसा करता हुआ (आगमत्) अपने पूर्व स्वास्थ्य को पहुँच गया (इमं-स्मप्रति-हर्यत) इसको तुम सूर्य अग्नि चन्द्र अपनी शरण में स्वीकार करो यह सुख शान्ति धैर्य को प्राप्त करता रहे (बृहस्पते-वशे-लब्ध्वा) हे ऊर्ध्वदिशा के देव सूर्य ! तू रोगजन्तुओं को अपने वश में प्राप्त करले सामान्य करले किरणों द्वारा, पुनः (अग्नीषोमा-विविध्यताम्) हे अग्नि और चन्द्रमा तुम इन्हें उष्णशीतधाराओं से अग्नि जल के मिश्रण गरम जल तथा भाप से ताडित करो-निर्बल बनाओ। सूर्य की अरुण किरण, अग्नि द्वारा गरम जल और भाप के प्रयोग वाष्प ताप और चन्द्रमा को चान्दनी से रोगजन्तु को नष्ट करो ।। २ ।।

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

(सोमप) हे सोम औषध को पीने वाले अग्नि (यातुधानस्य-जहि-च) यातुधान-पीडक रोगजन्तु को मार (प्रजां-नयस्व) और उसकी प्रजा अल्प बच्चों को भी ले जा-बाहिर निकाल (स्तुवानस्य) गिडगिडाते हुये पीडक रोग जन्तु की (परम्-उत-अवरम्-अक्षि-निपातम) दाहनी और वाम आंख को निकाल दे धूएं से अन्धी करदे-नष्ट करदे ।। ३ ।

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

(जातवेदः-अग्ने) हे प्रकट होते ही जानने योग्य होम-अग्नि ! तू (यत्र गुहा) जिस गुप्त स्थान में रहते हुये (एषां-सताम्-अत्त्रिणाम्) इन मांस आदि के खाने वाले रोग-जन्तुओं के (जनिमानि वेत्थ) जन्मो वंशो स्थानों को तू जानता है, वहाँ (त्वं-ब्रह्मणा-वावृधानः) तू मन्त्र द्वारा होममन्त्र विधान द्वारा बढ़ा हुआ प्रज्वलित हुआ (एषां-ताम्) इन[1] उनको (शततर्हं-जहि) बहुतेरे छिन्नभिन्न करने वाले ज्वाला समूहों से नष्ट कर ।। ४ ।।

---

१ "विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः" 'एतान्' स्थाने एषाम् ।

नवम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर जन) ।

देवता—१, २ वस्वादयो मन्त्रोक्ताः (वसु, इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि, आदित्य, विश्वेदेव, सूर्य) ।

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः । इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥

(अस्मिन्) रोग जन्तुओं से विमुक्त इस मानव के अन्दर (वसवः-वसु-धारयन्तु) वसाने वाले प्राणों[1] वसाने वाले जीवन स्वास्थ्य-जीवनतत्त्व को धारण करो-स्थापित करो, तथा (इन्द्रः) वैद्युत तेज (पूषा) पोषणपदार्थ दाता पृथिवी[2] (वरुणः) जल (मित्रः) जीवन प्रेरक वायु[3] (अग्निः) अग्नि (आदित्याः) बारह मास (च) और (विश्वे-देवाः) सूर्य किरणें[4] (इमम्) इस स्वस्थ जन को (उत्तरस्मिन्-ज्योतिषि-धारयन्तु) उत्कृष्ट जीवनज्योति में स्थापित-पूर्ण आयु में स्थापित करो ।। १ ।।

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् । सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥

(देवाः) हे देवो-विद्वानों चिकित्सकों ! (अस्य-प्रदिशि) इस रोगजन्तुमुक्त स्वस्थ मनुष्य की अनुकूलता में या इसकी सीमाओं में-सब ओर में रक्षार्थ (ज्योतिः सूर्यः-अग्निः-उत वा हिरण्यम्-अस्तु) ज्योति अर्थात्

---

१ "प्राणा वै वसवः" [तै० ३ । २ । ३ । ३]

२ "पूषा पृथिवी नाम" [निघ० १ । १]

३ "अयं वै वायुर्मित्रोयोऽयं पवते [श० ६ । ५ । ४ । १४]

४ "एतेवै रश्मयो विश्वे देवाः" [श० १२ । ४ । ४ । ६]

सूर्य, अग्नि, अपि च चन्द्र हो[1] अग्नि सत्कार्यार्थ उपचारार्थ सूर्य दोष-निवारणार्थ चन्द्र शान्तिप्रदानार्थ हो। (सपत्ना:-अस्मत् अधरे-भवन्तु) पाप-पापचारी अहितकर[2] इसके[3] नीचे होवें-इस पर आक्रमण न कर सकें (इदम्-उत्तमं-नाकम्-अधि रोहय) इसे-उत्कृष्ट नाक-न-अक-नितान्त सुख स्थान मोक्ष की ओर ले जाओ[4] ॥ २ ॥

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥३॥

(जातवेद:-अग्ने-त्वम्) हे प्रसिद्ध मात्र हुआ-जानने योग्य अग्नि ! तू (येन-उत्तमेन-ब्रह्मणा) जिस उत्तम मन्त्र से (इन्द्राय) इन्द्र-वायु के लिये (पयांसि) दूध घृत आदि हव्यपदार्थों को सम्यक् होम कर सम्यक् आभरित करता है (तेन) उस मन्त्र-विधिवचन से (इह-इमं-वर्धय) इस जीवन में इसे बढा (एन सजाताना श्रेष्ठये धेहि) समान जातों के श्रेष्ठता में समन्त रूप से धारण करावे ॥ ३ ॥

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

(एषां-यज्ञम्-उत वर्च:-अहम्-आददे) इन पापियो पीडा दायक रोगजन्तुओं के सङ्गतिकरण एकसाथ आक्रमण को और दुःखतम प्रभाव को मैं अपने स्वाधीन करता हूँ (राय:-पोषं-चिन्तानि) ऐश्वर्य के पोष को और मनोभावों को भी अपने वश में लेता हूँ (सपत्ना:) पापीजन (अस्मत्-अधरे-

---

१ "चन्द्रं हिरण्यम्" [तै० १ । ७ । ६ । ३]
२ "पाप्मा वै सपत्न:" [श० ८ । ५ । १ । ६]
३ अस्मात् स्थाने अस्य-छान्दस: ।
४ "व्यत्ययेन-बहुचन-एकवचनम् ।

भवन्तु) इसके¹ नीचे होवे (इमम्-उत्तमं-नाकम्-अग्ने-रोहय) इस रोग जन्तु मुक्त को हे अग्नि तू उत्तम स्वर्ग उत्तम सुख धाम की ओर लेजा ॥ ४ ॥

दशम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा । (स्थिर मनवाला)

देवता—१ असुरः (कान्ति का फेंकने वाला) ३-४ वरुणः ।

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥१॥

(वरुणस्य-राज्ञः-हि सत्या-वशा नयामि) वरुण सबको वरने घेरने वाले राजमान शरीर मे राजमान जलोदर रोग के सद् लक्षणों के स्ववश करता हूँ (अयं-देवनाम्-असुरः) यह जलोदर रोग दिव्य गुणों शरीर कान्तिआदि का फेंकने वाला है (विराजति) मनुष्य प्रजा में हो जाता है (ब्रह्मणा-शाशदानः) चिकित्सा मन्त्र-विचार से क्षीण होता हुआ रोग है (ततः परि) उससे परे (उग्रस्य मन्योः) उग्र तीक्ष्ण जलोदर रोग के प्रकोप से (इमम्-उन्नयामि) इस रोगी को ऊपर उठाता हूँ मैं चिकित्सक निकालता हूँ ॥ १ ॥

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्यु ग्र
निचिकेषि द्रुग्धम् ।
सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति
शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

---

१ "अयं देवानाम्" इति सूक्तेन जलोदर रोग निवृत्तये (सायणः) ।

(उग्र-वरुण-राजन्) हे तीव्र शरीर में राजमान जलोदर रोग ! (ते-मन्यवे-नमः-अस्तु) तेरे प्रभाव-वेग के लिये-नमः-वज्र प्रतीकार हो[1] (विश्वं-द्रुग्धं-निचिकेषि) सब दूषित शरीर को संवेदन करता है पीड़ित करता है (अन्यान्-सहस्रं-साकं-प्रसुवामि) अन्य बहुत सारे तेरे साथ होने वाले रोगों को बाहिर निकालता हूँ मैं चिकित्सक (तव-अयं-शतं-शरदः-जीवाति) तेरा यह रोगी रोगमुक्त होकर सौ वर्ष तक जीवेगा ॥ २ ॥

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥

(जिह्वया) जिह्वा से (यत्-बहु) जो बहुत (वृजिनम्-अनृतम्) वर्जनीय[2] अनृत-प्रयुक्त पाप (उवक्था) कहा है (सत्यधर्मणः-वरुणात्-राज्ञः-त्वा-अहं-मुञ्चामि) सत्य धर्म-यथावत् प्रभाव वाले राजमान-शरीर में राजमान जलोदर रोग से तुझे मैं चिकित्सक छुड़ाता हूँ ॥ ३ ॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥ ४ ॥

(त्वा) हे रोगी तुझे (वैश्वानरात्-महतः-अर्णवात्-परि मुञ्चामि) विश्वानर-जठराग्नि सम्बन्धी जल वाले महान् रोग से छुड़ाता हूँ । (उग्र) हे तीक्ष्ण औषध (सजातान्-इह-ब्रह्म वद) समान रोगों को यहाँ मन्त्र कह (नः-च-अपचिकीहि) और हमें रोग से पीडा से पृथक् रखा ॥ ४ ॥

एकादश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला) ।

---

१ "नमः वज्रनाम" [निघ० २ । २०]
२ "वृजिनानि वर्जनीमानि" [निरु० १० । ४०]

देवता—पूषादयो मन्त्रोक्ताः (पूषा,-परमात्मा,-अर्यमा,-सूर्य-,-होता, अग्नि, वेधाः, इन्द्र) ।

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥

(पूषन्) हे पोषण कर्ता परमात्मन् ! (ते) तेरे रचे (अर्यमा) सूर्य[1] (होता) अग्नि[2] (वेधाः) इन्द्र-विद्युन्मय वायुः[3] (अस्मिन् सूतौ) इस सन्तानप्रसव में[4] (वषट् कृणोतु) प्राण सम्पादन करे-प्राण शक्ति दे[5] (ऋतजाता) ऋत-प्रसव लक्षण जल[6] प्रसव से कुछ पूर्व जलस्राव आगया जिसका वह ऐसी[7] (नारी) स्त्री (सूतवै-उ) प्रसव होने के लिये ही सन्तान जनने के लिये अवश्य (सिस्रताम्) प्रवाहण करे-आन्तरिक गतिप्रसार नीचे करे-किन छें[8] (पर्वाणि) योनिजोड़ों को (विजिहताम्) ढीला करदे ।। १ ।।

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यू र्णुवन्तु सूतवे ॥ २ ॥

---

१ "अर्यमा-आदित्यः" [निरु० ११ । २३]

२ "अग्निरेव होता" [जै० ३ । ३७४]

३ "इन्द्रो वै वेधाः" [ऐ० ६ । १०]

४ "व्यत्ययेन पुल्लिङ्गम्" ।

५ प्राणो वै वषट्कारः" [श० ४ । २ । १ । २९]

६ "ऋतमुदक नाम" [निघ० १ । १२]

७ "प्रसिच्यते योनिमुखात् श्लेष्मा च" [सुश्रुतशरीरस्थान० १० । १४]
"प्रसेकश्च गर्भोदकस्य" [चरकः० शरीर स्थान ८ । ३४]

८ "सुभगे प्रवाहस्व" [सुश्रुतः शरीरस्थान अ० १० । १७]

(दिवः) द्युलोक की (चतस्रः प्रदिशः) चारों सीमाएं (उत) और (भूम्याः) भूमि-पृथिवी की चारों दिशाएं, तथा (देवाः) इन दोनों स्थानों के अर्थात् द्युलोक की सूर्य-किरणें और पृथिवी के वनस्पति आदि दिव्य पदार्थ (गर्भम्) गर्भ को (समैरयन्) नीचे की ओर प्रेरित करते हैं (तम्) उसे (सूतवे) प्रसव के लिये-जन्मने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) आवरणरहित कर दें ॥ २ ॥

सूषा व्यूर्णोतु वियोनिं हापयामसि ।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥ ३ ॥

(सूषा) गर्भ को-सन्तान को उत्पन्न करने वाली (व्यूर्णोतु) अपने शरीर को-आवरणरहित करदे (योनिं विहापयामसि) सन्तान के बाहिर निकालने वाले स्थान को हम खोलते हैं (सूषणे) हे सन्तान को प्रसूत करने-जन्म देने वाली देवी ! (त्वम्) तू (श्रथय) अङ्गों-योनिसम्बन्धी नस नाडियों को ढीलाकर (विष्कले) हे विश्-प्रजा[1] सन्तान को उत्पन्न करने वाली देवी ! (त्वम्) तू (अवसृज) सन्तान को नीचे छोड़ ॥ ३ ॥

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम् ।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥४॥

(जरायु) गर्भावरण (न-इव) न ही (मांसे) गर्भमांस में (न) न (पीवसि) मेद में (न-इव) नहीं (मज्जसु) मज्जाओं मे (आहतम्) सटा हुआ हो, किन्तु (पृश्नि) ऊपर ऊपर छूने वाली (शेवलम्) काई की भांति गर्भ के ऊपर होने वाला (जरायु) गर्भावरण (अवैतु) नीचे आवे (शुनवे-आत्तवे) कुत्ते के खाने के लिये (अवपद्यताम्) गर्भ से पृथक् हो जावे ॥ ४ ॥

---

१ "शकारस्य षकारश्छान्दसः" ।

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं
जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥ ५ ॥

(जरायुणा) हे प्रसव करने वाली देवी जरायु से[1] (ते मेहनम्) तेरे मूत्रस्थान को (विभिनद्मि) विभिन्न करता हूँ-अलग करता हूँ (योनिम्) योनि को (वि०) विभिन्न करता हूँ-अलग करता हूँ (गवीनिके) मूत्राशय के दोनों ओर वर्तमान नालियों को (वि०) विभिन्न करता हूँ (मातरं च) और माता को (वि०) विभिन्न करता हूँ-अलग करता हूँ (कुमारं पुत्रं च) कुमार पुत्र को भी (वि०) विभिन्न करता करता हूँ-अलग करता हूँ (जरायुमवपद्यताम्) जरायु नीचे आवे ॥ ५ ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा
पतावं जरायु पद्यताम् ॥ ६ ॥

(यथा) जैसे (वातः) झञ्झावात-'अन्ध्याव' वेग से आता है (यथा) जैसे (मनः) मन वेग से गति करता है (यथा) जैसे (पक्षिणः) पक्षी (पतन्ति) उड़ते हुये नीचे गिरते हैं (एव) ऐसे (दशमास्य) हे-दशमास पूर्ण गर्भ-बालक ! (त्वम्) तू (जरायुणा साकम्) जरायु के साथ (पत) वेग से नीचे आ-बाहिर आ (जरायु) जरायु भी (अवपद्यताम्) नीचे गिर जावे ॥ ६ ॥

द्वादश सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (तेजस्वी प्राणोंवाला)
देवता—यक्ष्मनाशनम् (रोगदूरीकरण)

---

१ "जरायुणा" पञ्चम्यर्थे तृतीया ।

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन्
य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

(प्रथमःजरायुजः) सृष्टि के आरम्भ में प्रथम या प्रतम-प्र कृष्टतम (उस्रियाः) किरणोंवाला (वृषा) प्रकाशवर्षक या वृषशक्तिप्रद (वाताभ्रजाः) वातमिश्रित अभ्र-मेघों का जन्मदाता (वृष्ट्या) वृष्टि के हेतु (स्तनयन्-एति) मैं आ रहा हूं-घोषणा करता हुआ सा आता है-उदय होता है (सः) वह सूर्य (नः-तन्वे मृडाति) हमारे शरीर के लिये-रोगनिवृत्त करके सुख पहुंचाता है (ऋजुगः-रुजन्) सरल गतिवाला रोगों को भङ्ग करता हुआ (यः) जो (एकम्-ओजः) अकेला ओज-तेज स्वरूप है (त्रेधा-विचक्रमे) तीनों द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक पर प्रकाश प्रताप प्रसारित करने का विक्रम करता है ॥ १ ॥

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत्
पर्वास्या ग्रभीता ॥ २ ॥

(अङ्गे अङ्गे) अङ्ग अङ्ग मे (शोचिषा) दीप्ति से-तेज से (शिश्रियाणम्) श्रयण करते हुए (त्वा) तुझ सूर्य को (हविषा) प्राणरूप से प्राण मान कर[1] (नमस्यन्तः) परिचरण करते हुए-सेवन करते हुये[2] (अङ्कान् समङ्कान्) रोग के बाहिरी चिह्नों को अन्दर के चिह्नों से लक्ष्य कर प्राणरूप से (विधेम) सेवन करें (यः-अस्य-पर्व-अग्रभीत्-ग्रभीता) जो इस रोगी के जोड़ को पकड़ रहा है पकड़ने वाला रोग, उसके दूर करने के लिये इसे बाहिरी भीतरी लक्षण को लक्ष्य कर तुझे-सेवन करे ॥ २ ॥

---

१ "प्राणो हविः" [मैं० १ । ९ । १] "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः" [प्रश्नो० १ । ८]
२ "नमस्यति परिचरणकर्मा" [निघ० ३ । ५]

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो
वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

(शीर्षक्तयाः) शिर को प्राप्त होने वाली उन्माद-अपस्मारिका से (मुञ्च) हे वैद्य छुड़ा (उत) तथा (यः) जो (वातजाः) वातप्रकोप से उत्पन्न वातिक (शुष्मः) शोषक-पित्तप्रकोप से उत्पन्न पैत्तिक (च) और (यः) जो (अभ्रजाः) घनरूप कफप्रकोप से उत्पन्न श्लैष्मिक (कासः) खांसी रोग-क्षयरूप खांसी रोग (यः) जो (अस्य) इस रोगी के (परुष्परुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घुसा हुआ है या घुस बैठा है, उससे (एनम्) इस रोगी को (मुञ्च) छुड़ा, वह रोगी (वनस्पतीन्) वनस्पतियों (च) और (पर्वतान्) पर्वतों को (सचताम्) सेवन करे[1] ॥ ३ ॥[2]

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम ॥ ४ ॥

(मे परस्मै गात्राय शम्) रोगमुक्त-स्वस्थ जन कहता है मेरे पर-उत्कृष्ट गात्र शिर के लिये कल्याण हो, (मे-अवराय शम्-अस्तु) मेरे नीचे के गात्र-कटि जङ्घा के लिये कल्याण हो (मे चतुर्भ्यः-अङ्गेभ्यः शम्) मेरे ऊपर नीचे की दिशा से अतिरिक्त चारों दिशाओं वाले अङ्गों सामने पीछे उत्तर दक्षिण वाले अङ्गों के लिये कल्याण हो (मम तन्वे शम्-अस्तु) मेरे शरीर अन्दर शरीर के लिये कल्याण हो ॥ ४ ॥

---

१ "षच सेवने च" [भ्वादि०] ।

२ तथा-इस मन्त्र का विशेष विवरण देखो हमारी लिखी 'अथर्ववेदीय मन्त्र-विद्या' पुस्तक में ।

त्रयोदश सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (तेजस्वी प्राणवाला)।
देवता—विद्युत्।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥ १ ॥

(विद्युते नमस्ते-अस्तु) विशेष द्योतनशील मेघों में चमकने वाली तुझ विजुली के लिये स्वागत हो (स्तनयित्नवे ते नमः) तुझ कड़क करने वाले विद्युत् तत्त्व के लिये स्वागत हो (ते-अश्मने नमः-अस्तु) तुझ मेघरूप के लिए स्वागत हो[1] (येन) जिससे कि तू विद्युत् स्तनयित्नु और मेघ (दूडाशे-अस्यसि) दुष्काल को[2] हटाता है ॥ १ ॥

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

(प्रवतः-नपात् ते नमः) आकाश से प्रगति करने वाले नीचे वृष्टिरूप में आने वाले जल प्रवाह को न गिरने देने वाली पदार्थ सम्भालने-थामने वाले तुझ गुप्त विद्युत् के लिये स्वागत हो (यः-तपः समूहसि) जो तेज को सम्यक् ऊहन करती है-तर्कना में चमक लाती है पुनः वृष्टि होती है-जल बरसता है (नः-तनूभ्यः-मृडय) हमारे अङ्गों के लिये-सुखदायक हो (तोकेभ्यः-मयः-कृधि) पुत्रपौत्रों के लिये सुख कर ॥ २ ॥

प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत्
समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥ ३ ॥

---

१ "अश्मा मेघनाम" [निघ० १ । १०]
२ "द्वितीयार्थे सप्तमी 'सुपां सुपो' भवन्तीति प्रमाणात्।

(प्रवतः-नपात् तुभ्यं नमः-एव-अस्तु) हे आकाश के जलप्रवाह को थामने वाली विद्युत् तेरा स्वागत हो (ते हेतये तपुषे च नमः कृण्मः) तेरे वज्र और तापक बल के लिये स्वागत है (ते परमं धाम विद्म) तेरे परम धाम को हम जानते हैं (यत् समुद्रे-गुहा-अन्त-असि निहिता नाभिः) जो अन्तरिक्ष में अन्तर्निहित गुप्त नाभि है-जलों को बान्धने वाली है ॥ ३ ॥

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

(यां त्वा) हे विद्युत् जिस तुझ को (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् या विद्या के प्रवेश में कुशल विद्वान् जन (इषुं कृण्वानाः-असृजन्त) शत्रु या रोग पर प्रहार-साधन वाणादि करने के हेतु निष्पादन करते हैं-आविष्कृत करते हैं (सा) वह तू (नः-मृड) हमें सुखीकर (विदथे गृणाना) दुःख संवेदन-संग्राम में प्रशस्त-उपयुक्त की हुई (देवि तस्मै ते नमः-अस्तु) हे देवी ! उस तेरे लिये स्वागत है-उपयोग है ।

चतुर्थदश सूक्त

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—यमः (यमनशील-संयमी गृहस्थ जन) ।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

(अस्याः) इस अपनी वधू का (भगं वर्चः) सुखैश्वर्य और आत्मिक स्नेह तेज को (आदिशि) मैं संयमी पति ग्रहण करता हूँ स्वीकार कर्ता हूँ (महाबुध्नः-इव पर्वतः) महान्-दृढ भूमि वाला पर्वत—जैसे स्थिर हुई (पितृषु ज्योक्-आस्ताम्) मेरे पिता आदि के बीच में उनकी सेवादि में चिरकाल तक-सदा उद्यत रहे ॥ १ ॥

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

(यम राजन्) हे संयमी विद्या से प्रकाशमान वर ! (ते) तेरे लिये (एषा कन्या वधूः) यह कन्या-कमनीया वधू (निधूयताम्) तेरे द्वारा निश्चित गृहस्थाश्रम में भोगने योग्य है (सा) वह (मातुः) अपनी तेरी माता के (अथ-उ) और (भ्रातुः) भ्राता के (अथ) और (पितुः) पिता के (गृहे) प्रतिष्ठान में-आश्रय में[1] (बध्यताम्) बान्धिये-नियुक्त कीजिए-उनकी सेवा में कुशल बनाइये ॥ २ ॥

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥ ३ ॥

(राजन्) हे गुणों से राजमान वर ! (एषा ते कुलपा) यह कन्या तेरे कुल की रक्षक है (तम्-उ-ते परि दद्मसि) उसे ही मैं तेरे लिये दे रहा हूं (आशीर्ष्णः-समोप्यात्) जब तक इस का शिर शरीर से अलग न हो-शिर के बने रहने तक-नम्रता से (पितृषु ज्योक्-आसातै) तेरे पिता माता आदि के आश्रय सेवा करने में रह सकेगी ॥ ३ ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥ ४ ॥

(ते) हे वधू ! मैं तेरा वर—पति (असितस्य) बन्धन-रहित (कश्यपस्य) सर्वद्रष्टा[2] (च) और (गयस्य) प्राणस्वरूप परमात्मा के[3]

---

१ "गृहा वै प्रतिष्ठा" [श० १ । १ । १ । ९]

२ "कश्यपः पश्यको भवति यः सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्" (तै० आ० १ । ८ । ८)

३ "प्राणो वै गयाः" [श० १४ । ८ । १५ । ७]

(ब्रह्मणा) मन्त्र-मननीय विचार द्वारा (ते) तेरे (भगम्) श्रीरूप गुणैश्वर्य को (आमयः-अन्तः कोशम्-इव) स्त्रियां जैसे अन्तः कोश में छिपे धन कोश-को आभूषण कोश को छिपा कर रखती है ऐसे (अपि नह्यामि) अपने अन्दर आत्मा में धारण करता हूँ उसे नष्ट न होने दूंगा ॥ ४ ॥

पञ्चदश सूक्त

ऋषि.—अथर्वा (स्थिरमन वाला)
देवता—सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः ।

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

(सिन्धवः-सं सं स्रवन्तु) स्यन्दमान नदियां निरन्तर सम्यक् बहती रहें (वाताः सम्०) वायु-हवाएं सम्यक् बहें-चलें (पतत्रिणः-सम्) पतत्र वाले वाहन में युक्त अग्नि विद्युत् आदि पदार्थ सम्यक् गति करते रहें (मे-इमं यज्ञ प्रदिवः- जुषन्ताम्) मेरे इस जीवनयज्ञ को पुरातन[1] पितृजन गुरु-जन-विद्वान्जन प्रीति पूर्वक बढ़ावें (संस्राव्येण-हविषा जुहोमि) सम्यक् तृप्त करने वाले मनोभाव से[2] अपनाता हूँ ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

(इह-एव) यहाँ ही (संस्रवणाः) हे दया बरसाने वाले विद्वानों ! (इह-एव) यहाँ ही (मे) मेरे (इह हवम्-आयात) यहाँ आमन्त्रण पर आओ (उत-इमं गिरः- वर्धयत) और इस मुझ को 'गिरः-गीर्भिः'[3] मेरी

---

१ "प्रदिवः पुराणनाम" [निघं० ३ । २] ।
२ "मनो हविः" [तै० आ० ३ । ६ । १] ।
३ भिसः स्थाने जसः ।

स्तुतियों द्वारा बढ़ाओ (यः पशुः) जो धान-अन्न[1] (सर्वः) सब (इह-एतु) यहां आवे (या रयिः-अस्मिन् तिष्ठतु) जो धनराशि वह इस जीवन में प्राप्त हो ॥ २ ॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

(नदीनां ये-उत्सासः) नदियो के जो उद्घाटित-रजवाहे (सदम्) हमारे सदन-अन्न सदन-खेत में (अक्षिताः-संस्रवन्ति) निरन्तर-वहे आवें (तेभिः-सर्वैः सस्रावैः) उन सब वहने वाले रजवाहों के द्वारा (मे धनं सं स्रावयामसि) अपने प्रीणन करने वाले अन्न को[2] अपने खेत मे सम्पादित करते हैं ॥ ३ ॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

(सर्पिषः) घृत के (च) और (क्षीरस्य) दूध के (उदकस्य) जल के समान (ये) जो (संस्रवाः) प्रवाह (संस्रवन्ति) बह रहे हैं गौ आदि पशुओ से वे (तेभिः-सर्वैः मे संस्रवैः) उन सब सम्यक्-बहने वाले प्रवाहो से अपने लिये घर में (धनं सं स्रावयामसि) हम प्रीणन करने वाले सुख को सम्प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

षोडश सूक्त

ऋषिः—चातनः (रोग दोष नाशक जन) ।

देवता—१ अग्निः, २ वरुणः, अग्निः, इन्द्रश्च, ३, ४ सीसम् ।

---

१ "पशवो वै धानाः" [मै० ४ । ७ । ४] ।

२ "धनं कस्माद् धिनोतीति सतः" [निरु० ३ । १०] "धिवि प्रीणने" [भ्वादि०] "धिन्विकृण्व्योरच" [अष्टा० ३ । १ । ८०]

ये ऽमावस्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः ।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ १ ॥

(ये) जो (अत्त्रिणः) मांस भक्षक जन्तु या जन (अमावास्यां रात्रिम्) अमावास्या-साथ रहने वाली अपनी पापभावना[1] को आश्रित कर-कारण बना (व्राजम्-उदस्थुः) व्रज-समूह-भागों को हमारी जीवनयात्रा के मार्गों पर उठ पड़ने-आक्रमण पर-उतारु हो जावे, तो (यातुहा) यातना देने वाले को नष्ट करने वाला (तुरीयः-अग्निः) शीघ्रकारी[2] प्रभावकारी अग्नि या अग्रणेता (सः) वह (अस्मभ्यम्-अधि ब्रवत्) हमारे लिये तुरन्त दबादे या सूचित करदे- आक्रमण कर रोक दे ॥ १ ॥

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥

(वरुणः सीसाय- अध्याह) वरने वाला रक्षक सीसे का उपयोग करने को आदेश देता है चाहे भस्म हो या फिर सीसा अस्त्र प्रयुक्त गोली हो (अग्निः-सीसाय-उप-अवति) अग्नि या अग्रणेता सीसे के चूर्ण या गोली को लक्ष्य कर रक्षण करता है (इन्द्रः सीसं में प्रायच्छत्) इन्द्र-विद्युत् शक्ति या ऐश्वर्यवान् राजा ने सीसे को मुझे प्रयोगार्थ प्रदान किया है ॥ २ ॥

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः ।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥ ३ ॥

(इदम्) यह सीसा भस्म या गोगी अस्त्रप्रयुक्त (विष्कन्धम्) विशेष शोषक रोगजन्तु या प्रजाशोषक जन को[3] (सहते) नष्ट करता है

---

१ "पाप्मा रात्रिः" [कौ० १७ । ६]
२ "तुरीयं त्वरतेः" [निरु० १३ । ९]
३ "स्कन्दिर् गतिशोषणयोः" [भ्वादि०]
४ "षह शक्यार्थे" [दिवादि०]
"चक प्रतिघाते" [भ्वादि०]

(इदम्) यह सीसा भस्म या अस्त्रप्रयुक्त (अत्रिणः-बाधते) मांस-भक्षक रोगजन्तुओं को या पीडक जनों को नष्ट करता है (अनेन) इस सीसे से (पिशाच्याः) मांस रक्त खाने वाली व्याधि या बिभीषिका से (या विश्वा जातानि) जो सारे उत्पन्न हुए आक्रमणकारियों को (ससहे) मैं सहन करता हूँ ॥ ३ ॥

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ ४ ॥

(यदि नः-गां हंसि) हे रोगजन्तु या घातक जन ! यदि तू हमारी गौ को मारता है-मारे (यदि-अश्वं यदि पुरुषम्) यदि घोड़े को यदि मनुष्य को मारता-मारे तो (तं त्वा) उस तुझ को (सीसेन विध्यामः) सीसे की भस्म या अस्त्रप्रयुक्त सीसे की गोली से वींधते हैं-मारते हैं । यथा नः-अवीरहा-असः) जिस से तू हमारे वीरों को न मार सकने वाला हो ॥ ४ ॥

सप्तदश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (मनस्वी) ।

देवता—योषितो धमन्यश्च (स्त्रियां और धमनियां) ।

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥

(याः-अमूः) जो वे (लोहितवाससः) रक्तभरी (योषितः-हिराः-यन्ति) सेवनीय[1] या परितर्कनीय शोधनीय बन्द करने योग्य नाड़ियां वहती जारही बह रही है[2] (तिष्ठन्तु) वे ठहरें-वहना बन्द करे (अभ्रातरः-इव

---

१ "जुषी प्रीतिसेवनयो" [दिवादि०] "जुष परितंकने" [चुरादि०]
२ "हीराभिः स्रवन्तीः" [मै० ३ । १५ । ७]

हतवर्चसः-आमयः) भ्राता से हीन तेजरहित बहिनें जैसे पिता के घर में पितृवंश वृद्धि के लिये ठहरी रहती हैं ऐसे ही रक्तस्रावी नाड़ियां ठहरें ॥ १ ॥

तिष्ठा॑वरे॒ तिष्ठ॑ पर उ॒त त्वं ति॑ष्ठ मध्यमे ।
कनि॒ष्ठिका॑ च॒ तिष्ठ॑ति॒ तिष्ठा॒दिद् ध॒मनि॒र्मही॑ ॥ २ ॥

(अवरे तिष्ठ) हे नीचे वाली धमनी-नाड़ी ! तू बहने से रुक-अपने स्थान पर ठहर (परे तिष्ठ) हे पर-उत्कृष्ट-ऊपर वाली धमनी-नाड़ी ! तू ठहर-बहने से रुक (उत) अपि-और (मध्यमे त्वं तिष्ठ) हे मध्य में होने वाली नाड़ी तू ठहर-बहने से रुके (च) तथा (कनिष्ठिका तिष्ठति) अत्यन्त छोटी नाड़ी ठहरे-बहने से रुक (मही धमनिः-इत् तिष्ठात्) बड़ी धमनी नाड़ी भी अवश्य ठहरे-बहने से रुके जावें ॥ २ ॥

श॒तस्य॑ ध॒मनी॑नां स॒हस्र॑स्य हि॒राणा॑म् ।
अस्थु॒रिन्म॑ध्य॒मा इ॒माः सा॒कमन्ता॑ अरंसत ॥ ३ ॥

(धमनीनां शतस्य) बड़ी नाड़ियों के सौ संख्या परिमाण के-सौ बड़ी नाड़ियों के (हिराणां सहस्रस्य) सूक्ष्म-नाड़ियों तन्तुओं के सहस्र-हजार नाड़ी तन्तुओं के परिमाण के साथ (मध्यमाः-इत् स्थुः) मध्यम नाड़ियां भी अवश्य ठहर जाती हैं बहने से रुक जाती हैं (इमाः-अन्तरः साकम्-अरंसत) शेष ये सूक्ष्म तन्तु नाड़ियां भी साथ ही रम जाती हैं-बहने से रुक जाती हैं ॥ ३ ॥

परि॑ वः॒ सिक॑तावती ध॒नूर्बृ॑ह॒त्य॑क्रमीत् ।
तिष्ठ॑तेल॒यता॒ सु क॑म् ॥ ४ ॥

(वः) हे नाड़ियों तुम्हारे में[1] (बृहती धनुः) बड़ी और गतिशील[2] या धनुष् के आकारवाली धमनी (सिकतावती) रक्तस्रावी रेत वाली—मिट्टी

---

१ "निर्धारणे षष्ठी ।
२ "धनु र्धन्वतेर्गतिकर्मणः" [निरु० ९ । १६]

चूरे वाली या वीर्यवती[1] (परि-अक्रमीत्) सब नाड़ियों में परिभूत हो जाती है। (तिष्ठत सुकम्-इलयता) वह बहने से रुके और शोभने सुख को प्रेरित करे ॥ ४ ॥

अष्टादश सूक्त

ऋषिः—द्रविणोदाः (धनदाता)।

देवता—सवित्रादयो मन्त्रोक्ता. (सविता आदि मन्त्र में कहे)

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं निररातिं सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥ १ ॥

(निर्लक्ष्म्यम्) चिह्न-धब्बे-मसे या कुष्ठ चिह्न से रहित (निर्-अरातिम्) राति-देना, अराति लेने-शोषण करने वाले-शुष्क भाव से रहित-(ललाम्यम्) मुख-सौन्दर्य को[2] (सुवामसि) हम सम्पादन करें (अथ) और भी (या भद्रा) जो भी अन्य शरीर के हितकर-कल्याणकारी आचरण हैं (तानि) उन्हें भी सम्पादन करें (नः) हमारी (प्रजायै) सन्तति के लिये-वंश चलाने के लिये (अरातिं नयामसि) शोषण करने वाली व्याधि को अपने तथा पत्नी के अन्दर से बाहिर ले आते हैं—सन्तति तक नहीं जाने देते हैं ॥ १ ॥

निररणिं सविता साविषत्
पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां
देवा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥

---

१ "रेतः सिक्ता" [श० ७ । १ । १ । १९]

२ "ललामो भवति मुखत एवास्मिन् यजमाने तेजो दधाति" [तै० सं० २ । १ । १० । १-२] "यल्लामोऽह्नस्तद्रूपम्" [काठ० १३ । ५]

(सविता) प्रातःकालीन वायु[1] (पादोः-हस्तयोः) पैरों की और हाथों की (अरणिं निः साविषत्) अरमणता को निकालता है तथा (वरुणः) वरने वाला-आकाश को घेरने वाला मेघजल (निः) निकाल दे (मित्रः) अग्नि (अर्यमा) आदित्य[2] (निः) निकालता है (रराणा-अनुमतिः) जन्म देने वाली पृथिवी[3] (अस्मभ्यम्) हमारे लिये गृहस्थ से (निः) निकाल देती है तथा (देवाः) ये सब देव (इमाम्) इस पत्नी को (सौभगाय) सौभाग्य के लिये (प्र-असाविषुः) सु सम्पन्न करें ॥ २ ॥

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
सर्वं तद् वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥३॥

(यत्) जो (घोरम्) भयानक या घातक लक्षण (ते) तेरे (आत्मनि) आत्मा में-अन्दर अन्तःकरण में (तन्वाम्) शरीर में (यद्वा) अथवा (केशेषु) केशमूलों में-मस्तिष्कतन्तुओं में (वा) या (प्रतिचक्षणे) दर्शन-साधन-आंख में (अस्ति) है (तत् सर्वम्) उस सब को (वाचा) वाणी-मधुर प्रभावकारी प्रवचन से (वयम्-अपहन्मः) हम नष्ट करते हैं (सविता देवः) उत्पादक-परमात्मदेव (त्वा सूदयतु) तुझे सद् लक्षण की ओर प्रेरित करे ॥ ३ ॥

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
विलीढ्यं ललाम्यं१ ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

(रिश्यपदीम्) ऋश्यपदी-हरिण जैसी उद्यत गति प्रवृत्ति को (वृषदतीम्) बैल के दान्त दीखाने जैसी प्रवृत्ति को (गोषेधाम्) गौ जैसी गति या चाल को (उत) और (विलीढ्यम्) विलेहन चाटने जैसे जिह्वा

---

१ "वायुरेव सविता" [गो० १ । १ । ३२]

२ "असौ वा आदित्योऽर्यमा" [तै-स० २ । ३ । ४ । १]

३ "इयं पृथिवी वा अनुमति" [तै० १ । ६ । १ । ४]

प्रवृत्ति को (ललाम्यम्) गर्वित प्रवृत्ति को (ताः) उन सब प्रवृत्तियों को (अस्मत्) हम अपने गृहस्थाश्रम से (नाशयामसि) नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

एकोनविंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (ब्रह्मज्ञानी) ।

देवता—१ इन्द्रः (राजा या सेनानी) २ मनुष्वेषवः (मनुष्य सम्बन्धी वाण) ३ रुद्रः (रूलाने वाला सेनानी) ४ देवाः (विद्वान्) ।

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

(इन्द्र) हे राजन् या सेनानायक ! तू (शव्याः-विषूचीः) हिंसक-शत्रुनाशक शस्त्रास्त्र समूह की प्रहारक विषमगतियों को[1] (अस्मत्-आरात्-पातय) हमारे से दूर शत्रुप्रदेश में इस प्रकार गिरा कि (विव्याधिनः-नः-माविदन्) इधर उधर से ताड़ने वाले हमें न प्राप्त हों, तथा (अभिव्याधिनः-मा विदन्) सामने ताड़ने वाले शत्रु जन हमें न प्राप्त हों ॥ १ ॥

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

(ये-अस्ताः-ये च-आस्याः-शरवः) जो फेंके गये और जो फेके जाने वाले शरु-हिंसक गोले (अस्मत्-विष्वञ्चः पतन्तु) हमारे से परे इधर उधर-गिरें, तथा (मनुष्वेषवः-दैवीः) मनुष्य द्वारा बल पाकर चले हुये वाणो ! तथा देव-विद्युद् आदि द्वारा चलाये गए वाणो ! तुम (मम-अमित्रान्) मेरे अमित्र-शत्रुओं को (विध्यत) विशेष वीन्धो ॥ २ ॥

---

१ "विषुरूपेषु विषमरूपेषु" [निरु० ११ । २३]

यो नः स्वो यो अरणः सजात
उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्य यैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥

(यः-नः स्वः) जो हमारा अपना जन (यः-अरणः) जो अन्य वंशीय जन[1] (सजातः-उत निष्ट्यः) समान स्वभाव अपिवा नीच स्वभाव (यः-अस्मान्) जो हमें (अभिदासति) पीडित करे[2] (रुद्रः) शत्रु को रुलाने वाला शूर सेनानी (शरवः) हिंसक शस्त्र धारा से (मम-एतान्-अमित्रान् विविध्यतु) मेरे इन शत्रुओं को विशेष रूप से ताडित करे ॥ ३ ॥

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः ।
देवास्त सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ५ ॥

(यः सपत्नः) जो शत्रु (यः-असपत्नः) जो शत्रु नहीं, अपितु मित्र (यः-च) और जो (द्विषन् नः शपाति) द्वेष करता हुए हमें अहितकर बोलता है (तम्) उसको (सर्वे देवाः-धूर्वन्तु) सब विद्वान् ताडित करें-फटकारें-धिक्कारें (मम-अन्तरं ब्रह्मवर्म) मेरे अन्दर परमात्मा मेरा कवच-रक्षक है ॥ ४ ॥

विंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर जन) ।

देवता—१ सोमो मरुतश्च (शान्त परमात्मा और विद्वान् जन) २ मित्रावरुणौ (प्राण-अपान) ३ वरुणः (उदान) ४ इन्द्र (जीवात्मा)

---

१ "अरणोऽपारणः" [निरु० ३ । १]
२ "दसु उपक्षये" [दिवादि०]

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा
नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥ १ ॥

(सोम देव) हे शान्तस्वरूपपरमात्मन् ! तथा (मरुतः) विद्वानों[1] (अस्मिन् यज्ञे) इस श्रेष्ठतम कर्म में (नः-मृडत) हमें सुखी करो, एवम् (अदारसृत्-भवतु) कोई विघ्नकर्ता हमारे यज्ञ को अङ्ग-भङ्ग करने वाला हो (नः-मा-अभिभाः) हमें न दबाने वाला हो (अभिशस्तिः-मा-उ) न अकीर्तिकर हो (नः-मा-उ वृजिना या द्वेष्या विदत्) हमें पाप वृत्तियां और जो द्वेष भावनाएं हैं वे भी न प्राप्त हों ॥ १ ॥

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।
युवं तं मित्रावरुणावस्मद् यावयतं परि ॥ २ ॥

(अद्य) इस जीवन में (अघायूनाम्) हमारा पाप-अनिष्ट चाहने वालों का[2] (यः सेन्यः-वधः) जो सेना में हुआ घातक शस्त्र (उदीरते) प्रहार करने को उभर रहा है । (तम्) उसको (युव मित्रावरुणौ) तुम दोनों शत्रु पर प्रहार करने वाले सेनानी और हमारा रक्षण करने वाले राजन्, अथवा विद्युत् दोनों शुष्क और आर्द्र धाराओं ! विद्युत्-धाराओं से युक्त अस्त्रों[3] (अस्मत् परि यावयतम्) हम से परे दूर रखें ॥ २ ॥

इतश्च यदमुतश्च यद् वधं वरुण यावय ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ३ ॥

---

१ "मरुतः-ऋत्विङ् नाम" [निघ० ३ । १८]
२ "छन्दसि परेच्छायामपि" [अष्टा ३ । १ । ८ वा०] इतिक्यच् ।
३ "मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणे हि" [मै० ३ । ८ । ९]

(वरुण) हमारे वरण-रक्षण करने वाले राजन् ! तू (इतः-च) इधर से भी-हमारी ओर से भी शत्रु के प्रति फेंके हुए, तथा (अमुतः-च) शत्रु की ओर से फेंके हुए (यत्-वधम्) जिस हनन साधन अस्त्र को (यावय) हम से अलग रख (महत्-शर्म वियच्छ) महान् सुखशरण को प्रदान कर (वधं वरीयः-यावय) हननसाधन अस्त्र को बहुत दूर अलग कर[1] ॥ ३ ॥

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

(इत्था महान् शासः-असि) हे वरुण-वरण रक्षण करने वाले राजन् ! तू सच्चा महान शासक है (अमित्रसहः-अस्तृतः) शत्रुओं को अभिभूत करने वाला और अहिंसनीय है[2] (यस्य सखा) जिसका समान धर्मी-मित्र है वह (कदाचन) कभी भी (न हन्यते न ज़ीयते) न मारा जाता है न जीता जाता है ॥ ४ ॥

एकविंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (अविचल) ।
देवता—इन्द्रः (राजा) ।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥ १ ॥

(विशांपतिः) प्रजाओं का पालक (स्वस्तिदा) मङ्गल दाता हो[3] (वृत्रहा) पापों-अनाचारों का नाशक[4] (विमृधः-वशी) विशेष शत्रु

---

१ 'प्रियस्थिरस्फिरोरुवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर''''" [अष्टा० ६ । ४ । १५७]
२ "स्तृञ् हिंसायाम्" [क्र्यादि०]
३ "स्वस्ति मङ्गलं क्षेमं च" [अव्ययार्थ निबन्धनम्]
४ "पाप्मा वै वृत्रः" [श० ११ । ५ । ७]

हिंसक तथा निज वश में करने वाला हो (वृषा) सुखवर्षक तथा वृषभ समान बलवान् (सोमपाः) सोमरस का पानकर्ता, न तु सुरा पान कर्ता (अभयङ्करः) हमें अभय करने वाला (नः पुरः-एतु) हमारे आगे चले-हमें सन्मार्ग पर चलावे (इन्द्रः) राजा होता है ॥ १ ॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

(इन्द्रः) हे राजन् तू (नः-मृधः-विजहि) हमारे संग्रामों को[1] नष्टकर (पृतन्यतः) शत्रुता करने वाले जनो को (नीचा यच्छ) नीचे-नियन्त्रण में ले (यः-अस्मान्-अभिदामति) जो हमें दबाता है, उमे (अधमं तमः-गमय) उसे घने अन्धकार में पहुंचादे ॥ २ ॥

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

(इन्द्र) हे राजन् ! तू (रक्षः-विजहि) जिस से अपनी रक्षा करनी है ऐसे दुष्टजन को[2] विनष्ट कर (मृधः-वि०) हिंसक प्राणी को विनष्ट कर (वृत्रस्य हनू वि रुज) पापी जन के दोनों जबड़ों को भङ्ग कर-तोड़ दे (वृत्रहन्) हे पापी जन-नाशक ! तू (अभिदासतः-अमित्रस्य) हमारा क्षय करते हुए शत्रु के (मन्युं वि०) क्रोध या अहितकर विचार को विनष्ट कर ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

---

१ "मृधः संग्राम नाम" [निघ० २ । १७]

२ "रक्षो रक्षितव्यमस्मात्" [निरु० ४ । १८]

(इन्द्र) हे राजन् ! तू (द्विषतः-मनः-अप) द्वेष करते हुए के मन विचार को अलग कर (जिज्यासतः-वधम्-अप) हमारे आयु को हानि करने वाले के घातक भाव को पृथक् कर (महत्-शर्म वियच्छ) भारी सुख शरण प्रदान कर (वधं वरीयः-यावय) घातक जन या घातक साधन को दूर कर ॥ ४ ॥

द्वाविंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (चिकित्सक ज्ञानी)

देवताः—सूर्यः, हृद्रोग, हरिमा (हलीमक रोग) ।

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

(ते) हे रोगी ! तेरा (हृद्द्योतः) हृदयोत्तेजन-हृदयजलन-हृदयधड़कन-हृदयशूल (च) और (हरिमा) हलीमक पाण्डु कामला रोग (सूर्यम्-अनु) सूर्य के साथ (उदयताम्) शरीर से बाहिर हो अतः (त्वा) तुझे (रोहितस्य गोः) नारंगी रंग वाले उदयकालिक सूर्य के[1] (तेन वर्णेन) उस रंग से (परिदध्मसि) ढकते हैं-सब ओर से भरपूर करते हैं। अन्य समय में कृत्रिम ढंग से अरुण रंग किरण से ढांपते है ॥ १ ॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥

(त्वा) हे रोगी ! तुझे (रोहितैः-वर्णैः) अरुण रंगों से-अरुण रंग वाले वेश आदि से (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन-पूर्ण आयु पाने के लिये

---

१ "गौरादित्यो भवति गमयति रसान्" [निरु० २ । २४]

(परिदध्मसि) ढांपते हैं (यथा) जिससे (अयम्) तू यह (अरपाः) दोष से-रोग से रहित (असत्) हो जावे (अथ-उ) अनन्तर ही-पुनः (अहरितः) रोगरूप हरे रंग से-हरे पीले रोग रंग से रहित (भुवत्) हो जावे ॥ २ ॥

या रोहिणीर्देवत्या३ गावो या उत रोहिणीः ।
रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

(या) जो (गावः) सूर्यकिरणें[1] (देवत्याः-रोहिणीः) स्वतः स्वरूप अरुण रंग वाली-सूर्योदय कालवाली हैं (उत) और (याः) जो (रोहिणीः) कृत्रिम अरुण रंग-वाली हैं (ताभिः) उन दोनों किरणों से (त्वा) तुझे (परिदध्मसि) ढांपते हैं (रूपं रूपं वयः-वयः) रूप-रोग से पूर्व जैसा था वैसा शरीर का रूप होजावे और वयः-अवस्था या प्राण बल रोग से पूर्व जैसा था वैसा हो जावे ॥ ३ ॥

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

(ते) हे रोगी ! तेरे (हरिमाणम्) हलीमक कामला-रोग को (शुकेषु) तोते पक्षियों में तथा (रोपणकासु) सदा रोहण करने वाली-हरी भरी रहने वाली दूब घासों में (दध्मसि) धरते हैं (अथ-उ) और भी (ते) तेरे हलीमक कामला रोग को (हारिद्रवेषु) हरिद्रु वृक्षों-दारु हल्दी वृक्ष समूहों में[2] (निदध्मसि) निहित करते हैं-विलुप्त करते हैं। हरे तोतों के पालने देखने उनमें रहने हरी दूब में बैठने दारु हल्दी के सेवन से उक्त रोग दूर हो जाता है ॥ ४ ॥

---

१ "गावः रश्मि नाम" [निघं० १ । ५]
२ "तस्य समूहः" [अष्टा० ४ । ३७, ४४]

त्रयोविंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला) ।

देवता—वनस्पतयः-रामा कृष्णा-असिक्नी च ।

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च ।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

(रामे-कृष्णे असिक्नि च-ओषधे) हे रामा, कृष्णा, और असिक्नी ओषधि ! तू (नक्तं-जाता-असि) रात्रि में उगने बढ़ने वाली है (रजनि) हे रंगने वाली ओषधि (इदं रजय) इसे रंग दे (यत्) जो कि (किलासं पलितं च) श्वेत कुष्ठ और श्वेत केशपन है ।। १ ।।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥ २ ॥

(किलासं च पलितं च) श्वेत कुष्ठ और श्वेत केशपन को (इतः) इस मनुष्य से (पृषत्-पृथक्[1] निर्नाशय) पृथक् कर विनष्ट करदे (शुक्लानि परा पातय) त्वचा के श्वेत चिह्नों को और श्वेत केशो को दूर कर (स्वः-वर्णः) त्वचा और केशों का अपना रंग (त्वा, 'त्वया') तेरे द्वारा (आविशताम्) आविष्ट हो-समाजावे ।। २ ।।

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ।
असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

(ओषधे) हे ओषधि ! (ते) तेरा (प्रलयनम्) घोल (असितम्) काला नीला है (तव) तेरा (आस्थानम्) आवास-रंगा वस्त्र आदि भी (असितम्) काला नीला है, अतः (असिक्नी-असि) तू असिक्नी-असिता-

---

१. इति सायणः ।

काली-नीली नामवाली है (दूतः पृषत्-निर्नाशय), इस रोगी मनुष्य से त्वचा के श्वेत चिह्न और केशों के श्वेत पन को सर्वथा पृथक् कर ॥ ३ ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

(त्वचि) त्वचा में-शरीर में हुए (अस्थिजस्य) हड्डी में हुए विकार से उत्पन्न (च) और (तनूजस्य) मांस विकार से उत्पन्न (दूष्या कृतस्य) दूषी-विषक्रिया से उत्पन्न (किलासस्य) श्वेत कुष्ठ का (यत्-श्वेत लक्ष्म) जो श्वेत चिह्न है, उसे (ब्रह्मणा-अनीनशम्) मैं चिकित्सक नीली ओषधि के ज्ञान मे नष्ट करता हूँ ॥ ४ ॥

चतुर्विंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (ओषधप्रयोक्ता) ।

देवता—आसुरी वनस्पतिः (पीली सरसों) ।

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥

(सुपर्णः प्रथमः-जातः) उत्तम रश्मि[1] वाला सूर्य प्रथम प्रकट हुआ (तस्य पित्तम्) उसका तेजरूप (त्वम्) हे ओषधि तू (आसीथ) है (आसुरी) गौर सरसों (युधा जिता) संघर्ष करने वाले-पीसने रगड़ने वाले से पीसी रगड़ी हुई (वनस्पतीन्) वनस्पतियो को (तत्-रूपम्) उस गुण को (चक्रे) अपने में करलेती है ॥ १ ॥

---

१. "सुपर्णाः-रश्मयः" [निघ० १ । ५] तद्वान् मतुब्लोपश्छान्दसः ।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् ।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥ २ ॥

(आसुरी) पीली सरसों (प्रथमा) मुख्य ओषधि (इदम्) इस (किलासनाशकम्) किलास कुष्ठ नाशक (किलासभेषजम्) किलास श्वेत कुष्ठ का भेषज है जो कि (किलासम्) श्वेत कुष्ठ को (अनीनशत्) नष्ट करता है (त्वचं सरूपाम्-अकरत्) त्वचा को अन्य त्वचा से रूप वाली कर देता है ॥ २ ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

(ओषधे) हे पीली सरसों ओषधि ! (ते माता) तेरी माता कुष्ठ अर्थात्-पृथिवी-भूमि (सरूपा) श्वेत कृष्ठ को समान करने वाली है (ते पिता) तेरा पिता अर्थात्-सूर्य (सरूपः) समानरूप करने वाला है (त्वम्) तू भी (सरूपकृत्) समान रूप करने वाली है अतः (सा) वह तू (इदम्) इस श्वेत कुष्ठ को (सरूपं कृधि) त्वचा के समान रूप कर ॥३॥

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

(पृथिव्याः-अधि) पृथिवी पर (उद्भृता) उगी हुई (श्यामा) नीली ओषधि भी[1] (सरूपकरणी) सरूप करने वाली है (इदम्) इस श्वेत कुष्ठ को (उ) अवश्य (सुप्रसाधय) सुधार-अच्छा करदे (पुनः) फिर (रूपाणि कल्पय) रूपों को बना ॥ ४ ॥

---

१ "श्यामा नील्याम्" [राजनि०]

पञ्चविंश सूक्त

ऋषि:—भृग्वङ्गिरा: (तेजस्वी ज्ञानाग्नि वाला)

देवता—यक्ष्मनाशनोऽग्नि: (रोगनाशक अग्नि)

यद॒ग्निरापो॒ अद॑हत् प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म॒धृतो॒ नमां॑सि ।
तत्र॑ त आहुः पर॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ संवि॒द्वान्
परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

(यत्) कि (धर्मधृत:) वातिक पैत्तिक श्लैष्मिक धर्मों को धारण करते हुए (आप:) आहार रस[1] (यत्र) जहाँ (नमांसि) नमन झुकाव (कृण्वन्) करते हैं, वहाँ (अग्नि:) कोष्ठ से स्थानच्युत अग्नि (प्रविश्य) प्रवेश करके (अदहत्) दहक उठता है[2] बस (तत्र) वहाँ (तक्मन्) हे ज्वर ! (ते) तेरा (परमं जनित्रम्) परम जन्म (आहु:) कहते हैं (स:) वह तू (न:) हमें (संविद्वान्) समझता हुआ दृढ भाव रखता हुआ (परि वृङ्ग्धि) वर्जित कर छोड़ दें ॥ १ ॥

यद्य॒र्चिर्यदि॒ वासि॑ शो॒चिः शकल्ये॒षि यदि॑ वा ते ज॒नित्र॑म् ।
हू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान्
परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

(यदि-अर्चि:) यदि तू अग्निदीप्ति जैसा (यदि वा शोचि:) अग्नि-ज्वाला जैसा (असि) है (शकल्य-इषि) देह के टुकड़े अङ्ग अङ्ग में[3] प्राप्त हो रहा है अङ्ग अङ्ग को तोड़ रहा है (यदि वा ते जनित्रम्) अथवा तू अपने

---

१ "रसा वा आप:" [श० ३ । ३ । ३ । १८]

२ "मिथ्याहारव्यवहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रया: । वहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदा: स्यूरसानुगा:" [माधव निदान ज्वर नि० २]

३ 'ङी' प्रत्ययस्य लुक् [छान्दस०]

जन्मस्थान-देह रस में प्राप्त है (सः) वह (हरितस्य ह्रूडुः-नाम-असि) शरीर में हरे रंग का प्रेरक अवश्य है (देव तक्मन्) हे पीड़ित करने वाले ज्वर ! (संविद्वान्) समझता हुआ-स्थिर भाव रखता हुआ (नः) हमें (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ २ ॥

यदि॑ शो॒को यदि॑ वाभिशो॒को
यदि॑ वा॒ रा॒ज्ञो व॑रु॒णस्यासि॑ पु॒त्रः ।
ह्रू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान्
परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

(यदि) यदि तो (शोकः) शोक (यदि वा) और यदि (अभिशोकः) मोह-काम वासना[1] (यदि वा) और यदि (वरुणस्य राज्ञः पुत्रः-असि) वरुण राजा से उत्पन्न हुआ है-ईर्ष्या आदि पाप से प्राप्त[2] तथा (हरितस्य) शरीर में हरे रंग का (ह्रूडुः) प्रेरक[3] (नाम) अवश्य (असि) है, अतः (सः) वह तू (देव तक्मन्) हे पीड़ित करने वाले ज्वर (संविद्वान्) समझता हुआ स्थिर भाव रखता हुआ स्थिररूप (नः) हमें (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ ३ ॥

नमः॑ शी॒ताय॑ त॒क्मने॒ नमो॑ रू॒राय॑ शो॒चिषे॑ कृणोमि ।
यो अ॑न्येद्यु॒रु॑भय॒द्यु॒र॒भ्येति॑ तृ॒तीय॑काय
नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑ ॥ ४ ॥

(शीताय तक्मने नमः) शीत ज्वर पीड़क के लिये यज्ञ-होम या नाशनप्रतीकार[4] (रूराय शोचिषे नमः) उष्णज्वर-दाहक ज्वर तापक के

---

१ "वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मा गृहीतो भवति" [२१ । १२]

२ अभि पूर्वक शुचिर्मोहार्थे ।

३ 'हूड्' (गतौ) [भ्वादि०]

४ "यज्ञो नमः······" [२ । ४ । २ । २४]

लिये[1] यज्ञभावित जल या प्रतिकार (कृणोमि) मैं करता हूँ (यः-अन्येद्युः) जो अगले दिन भी (उभयेद्युः) दूसरे दिन एक बीच में छोड़ कर (अभ्येति) चढ़ता है (तृतीयकाय तक्मने) तीसरे दिन दो दिन बीच में छोड़ कर चढ़ता है उसके लिये (नमः-अस्तु) यज्ञ-होम-सुगन्ध या प्रतीकार हो ॥ ४ ॥

षड्विंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा॥ (ब्रह्मास्त्रवेत्ता)

देवता—इन्द्रादयः । (ऐश्वर्यवान् आदि गुणयुक्त परमात्मा या विद्युत् आदि)

आरे३ऽसावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत् ।
आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥

(देवासः) हे विजयकांक्षी वीरो[2] (हेतिः) शत्रु के फैंकने योग्य वह वज्र शस्त्र (अस्मत्-आरे-अस्तु) हमारे से दूर हो, तथा (अश्मा-आरे-असत्) वह पाषाणखण्ड वज्र भी हम से दूर रहै, यदि (यम्-अस्यथ) जिसे तुम फैंकते हो ॥ १ ॥

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो
भर्गः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

(असौ) वह (रातिः) सुखदाता परमात्मा (अस्मभ्यं सखा-अस्तु) हमारे लिये सहायक हो (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (भगः) भजनीय परमात्मा (सविता) प्रेरक परमात्मा तथा (चित्रराधाः) अद्भुत

---

१ "अग्निर्वै क्रूरः" [तां० ७ । ५ । १०]

२ "दिवु क्रीडाविजिगीषा: ·····" [दिवाः]

धन जिससे मिलता है ऐसा परमात्मा (सखा) सहायक मित्र है अथवा जलप्रद मेघ, विद्युत, वायु, सूर्य, पृथिवी सहायक हों ॥ २ ॥

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः ।
शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥

(मरुतः) हे सैनिक जनो ! (यूयम्) तुम (नः प्रवतः-नपात्) हमें नीचे गिरते हुओं को न गिराने वाले-उठाने वाले हो (सप्रथाः-शर्म यच्छाथ) विस्तार सहित सुख शरण प्रदान करो ॥ ३ ॥

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

(नः-सुषूदत) हे सैनिक जनो ! हमारी ओर दया पूर्ण होओ (मृडत) सुखी करो (मृडया) प्रत्येक अपने को सुखी कर (तनूभ्यः-तोकेभ्यः) शरीरों के लिये बच्चो के लिये (मयः-कृधि) सुख कर ॥ ४ ॥

सप्तविंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) (स्थिर, कल्याणाधार स्वराष्ट्र का चाहने वाला)

देवता—इन्द्राणी (परमेश्वर की या सम्राट् की विभूति) ।

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः
परिपन्थिनः ॥ १ ॥

(पारे) पर राष्ट्र में वर्तमान (अमूः) वे (पृदाक्वः) अजगररूप घेरा डाले हुई परसेनाएं (त्रिषप्ताः) तीनों स्थानों भूमि, जल, आकाश में सृप्त-सर्पवत् गतिशील हुई (निर्जरायवः) जरायु-केंचुली से निकले सर्प की भांति शिविर से बाहर आती हुई (तासाम्) उन सेनाओं को (जरायुभिः)

अन्य वैज्ञानिक आकरणों-गैस आदि के द्वारा (वयम्) हम (अघायोः परिपन्थिनः) पाप चिन्तक विरोधी शत्रु के (अक्ष्यौ-अपि) आंखों को अवश्य ढांपते हैं ॥ १ ॥

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती ।
विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

(पिनाकम्-इव बिभ्रती) धनुष् अस्त्र धारण करती हुई[1] (कृन्तती) शत्रुसेना का छेदन करती हुई (विषूची-एतु) हमारी सेना विविध ओर व्यूह क्रम से आगे आक्रमण करे (पुनर्भुवाः) भगाई हुई सेना पुनः एकत्र हुई शत्रु सेना के (अघायवः) पाप चाहने वाले शत्रुसेना के सैनिक जन (असमृद्धाः) अशक्त हो जावे और (मनः-विष्वक्) मन भिखर जावे कुछ भी करने में असमर्थ हो जावे ॥ २ ॥

न बहवः समशकन् नार्भका अभि दाधृषुः ।
वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

(बहवः-अघायवः) बहुत पापी शत्रु (न समशकन्) हमें पराजित करने में समर्थ नही (अर्भकाः-न-अभिदाधृषुः) थोड़े तो साहस कर सकते ही नहीं (वेणोः-उदुगाः-इव) बांस-वृक्ष की कोमल शाखाओं या अङ्कुरों के समान (अभितः-असमृद्धाः) सब ओर निर्बल ही हैं वे क्या कर सकते हैं ॥ ३ ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

(पादौ) सेना और समिति दोनों शत्रु पर प्रहार करने वाली सेना और स्वरक्षा करने वाली समिति ये दोनों स्वराष्ट्र के दो पैर हैं-तुम दोनों

---

१ इवोऽपि दृश्यते [निरु० १-११] इव पद पूर्णः ।

(प्रेतम्) शत्रु को विजय कर चलो (प्रस्फुरतम्) प्रगति करो-समृद्ध बनों (पृणतः-गृहान् वहतम्) अपने पालन करने वाले राजा के राष्ट्र प्रदेशों को प्राप्त होओ (अजीता) पराजित न होने वाली[1] (अमुषिता) शत्रु की ओर से न छीनी न लुटी पिटी हुई (प्रथमा) प्रमुख (इन्द्राणी) राष्ट्र विभूतिरूप सैन्यशक्ति (पुरः-एतु) हमारे राष्ट्र प्रदेशों मे जय घोष करती हुई प्रवेश करे ॥ ४ ॥

अष्टाविंश सूक्त

ऋषिः—चातनः (आक्रमकनाशक)

देवता—(पूर्वार्धस्य) अग्निः (अग्नेयास्त्र प्रयोक्ता नेता) (अग्रे) यातुधान्यः (छली पीड़क या रोगजन्तु) ।

उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

(अमीवचातनः) आक्रमणकारी का नाशक[2] (रक्षोहा) जिन से अपनी रक्षा करनी चाहिये ऐसे घातकों को नष्ट करने वाला (देवः-अग्निः) ज्ञानवान् जयशील अग्रणेता आग्नेयास्त्र-प्रयोक्ता या अग्नि (द्वयाविनः) दोमुखी चाल चलने वालों-मित्रता भी शत्रुता भी करने वालों या ऊपर नीचे जाने वाले रोग जन्तुओं को (यातुधानान्) यातना-पीड़ा को धारण करने वाले-देने वाले (किमीदिनः) किम्-किम् क्या-क्या जानने वालों क्या क्या अनर्थ सोचने कहने वालो को (दहन्) दग्ध करने के हेतु (उप प्रागात्) प्राप्त है-उपस्थित रहे ॥ १ ॥

---

१ छान्दस दीर्घः-"अन्येषामपिदृश्यते [अष्टा० ६ । ३ । १३]
२ "अम गत्यादिषु [भ्वादि०]

प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न् प्रति॑ देव किमी॒दिनः॑ ।
प्र॒तीचीः॑ कृष्णवर्तने॒ सं द॑ह यातु॒धान्यः॑ ॥ २ ॥

(कृष्णवर्तने देव) हे कृष्णवर्तनि ! अग्नेयास्त्र से धूंवाधार मचाने वाले अग्रणी देव या धूंवा प्रवर्तक अग्निदेव (यातुधानान् प्रति दह) यातना धारण कराने वाले-पीड़ा देने वाले शत्रुओं को या रोगजन्तुओं को दग्ध कर दे (किमीदिनः प्रति) क्या क्या अहित सोचने वाले कहने वाले गुप्त शत्रुओं या रोगजन्तुओं को दग्ध कर दे (प्रतीचीः-यातुधान्यः-संदह) तथा उलटी आने वाली-आक्रमण करने वाली-पीड़ा देने वाली सेनाएं या रोग जन्तुजातियों को एकठा दग्ध कर ॥ २ ॥

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मूर॑माद॒धे ।
या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु॒ सा ॥ ३ ॥

(या) जो पीड़ा देने वाली शत्रु व्यक्ति या रोग जन्तु जाति (शपनेन शशाप) किसी पीड़ा स्पर्श शस्त्रसाधन से पीड़ामय स्पर्श करती है[1] (या) जो (अघं मूरम्-आदधे) नाशक मूर्च्छा करने वाले साधन को धारण करती है[2] (या) जो (रसस्य हरणाय) देहस्थ रक्त हरण के लिये (जातम्-आरभे) जन्म लिया है (सा तोकम्-अत्तु) वह अपने ही सन्तान को खावे ॥ ३ ॥

पु॒त्रम॑त्तु॒ यातु॒धानीः॒ स्वसा॑रमु॒त न॒प्त्य॑म् ।
अधा॑ मि॒थो वि॑के॒श्यो॒३ वि घ्न॑तां यातु॒धान्यो॒३
वि तृ॑ह्यन्तामरा॒य्यः॑ ॥ ४ ॥

(यातुधानी) यातना धारक-पीड़ा देने वाली शत्रुसेना या रोग जन्तुजाति (पुत्रम्-अत्तु) अपने वीर को खावे[1] या रोग जन्तु जाति अपने

---

१ "शपतेः स्पृशतिकर्मणः" [निरु० ३-२१]

२ 'मूर्च्छा मोहने' ततः क्विप् च' "राल्लोपः" [अष्टा० ६-४-२१]

पुत्र को खावे (स्वसारम् नप्त्यम्) स्वसारिणी-सहायिका सेना को तथा न गिराने वाली रक्षिका सेना को खावे या रोग जन्तु जाति अपनी बहिन और नातिनी जाति को खावें (अध) अनन्तर (अराय्यः) न देने आप शोषण करने वाली (यातुधान्यः) यातना देने वाली शत्रु सेनाएं या रोग जन्तु जातियाँ (मिथः) परस्पर (विकेश्यः विघ्नतां वितृह्यन्ताम्) केश नोच नोच कर हिंसित अर्थात् विनष्ट हों ॥ ४ ॥

एकोनत्रिंश सूक्त

ऋषिः—वसिष्ठः (ज्ञान में अत्यन्त वसा हुआ) ।

देवता—ब्रह्मणस्पतिः. अभिवर्तमणि (पुरोहित, शत्रु पर आक्रमण साधन अस्त्र) ।

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

(ब्रह्मणस्पते) हे पुरोहित ! (येन-अभिवर्तेन मणिना) जिस अभिवर्त मणि-शत्रु पर आक्रमण के साधन-स्फोटक और विष द्रव्यों तथा लोहे आदि धातुओं से बने गोल बम के प्रयोग से[2] (इन्द्र) राजा (अभिवावृधे) समृद्धि को प्राप्त होता है आगे बढ़ता है[3] (तेन) इस से (राष्ट्राय) निज राष्ट्रहित के लिये (अस्मान्) हमें (अभिवर्धय) समृद्ध कर-आगे बढ़ा ॥ १ ॥

---

१ "पुत्रो वै वीरः" [श० ३ । ३ । १ । १२]

२ "अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभीवावृते तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय" [ऋ० १० । १७३ । १] ऋग्वेद में 'मणि' के स्थान में 'हविषा' दिया है;:गन्धक, खनिज तथा जङ्गम और स्थावर विष लोह आदि युक्त गोला बम फेकने वाला यहाँ अथर्व वेद में मणि नाम से कहा गया है ।

३ "छन्दसि लुङ् लङ् लिटः" [अष्टा० ३ । ४ । ६]

अभिवृत्यं सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

(सपत्नान्) हे राजन् ! शत्रुओं को (अभिवृत्य) घेर कर (याः) जो (नः) हमारी (अरातयः) आदान वृत्तिवाली-साथ न देने वाली प्रजाएं हैं उनको (अभि०) घेर कर (पृतन्यन्तम्) संग्राम चाहते हुए को[1] (अभि०) घेर कर (यः) जो (नः-दुरस्यति) हमें धोखा देता है-नष्ट करता है उसको (अभि० तिष्ठ) घेर कर ऊपर विराजमान हो ॥ २ ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथासंसि ॥ ३ ॥

(त्वा) अभिवर्त मणि-शत्रु पर आक्रमक गोले ! तुझे (सविता-देवः) दिव्यगुणवाला अग्नि[2] (सोमः) वायु[3] (अभि-अवीवृधत्) शत्रुओं के प्रति बढाता है-बलिष्ठ करता है। तथा (त्वा) तुझे (विश्वा भूतानि) तेरे अन्दर की समस्त साधनवस्तुएं (अभि०) शत्रुओं के प्रति बढ़ती-बल प्रेरित करती है (यथा) जिस से तू (अभीवर्तः) शत्रुओं पर आक्रमण का साधन (असति) हो ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

(अभीवर्तः-मणिः) अभीवर्त मणि शत्रुओं पर आक्रमण का साधन गोला (अभिभवः) आक्रमणकारी । तथा (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश

---

१. "पृतना संग्रामनाम" [निघं० २ । १७]
२. "अग्निरेव सविता" [गो० पू० १ । ३३]
३. "योऽयं वायुः पवते स सोमः" [श० ७ । ३ । १ । १]

करने वाला है (सपत्नेभ्यः पराभुवे) शत्रुओं के पराजय-हार के लिये (बध्यताम्) बन्ध जावे गोले रूप में तैयार हो जावे ॥ ४ ॥

उद॒सौ सूर्यो॑ अगादु॒दि॒दं मा॑म॒कं वचः॑ ।
यथा॒हं शत्रु॒हो॒ऽसा॑न्यसप॒त्नः स॑पत्न॒हा ॥ ५ ॥

(असौ सूर्यः) वह सूर्य (उदगात्) उन्नत हुआ है (इदं मामकं-वचः) यह मेरा घोषणावचन (उत्) उन्नत हुआ है (यथा) जिस से (अहम्) मैं (शत्रुहा-उ) शत्रुनाशक ही (असपत्नः) शत्रुरहित (सपत्नहा) शत्रुघातक (असानि) होऊँ ॥ ५ ॥

स॒प॒त्न॒क्षय॑णो॒ वृषा॒भिरा॑ष्ट्रो विषास॒हिः ।
यथा॒ह॒मे॒षां वी॒राणां॑ वि॒राजा॑नि॒ जन॑स्य च ॥ ६ ॥

(सपत्नक्षयणः) शत्रुओ का क्षय करने वाला (वृषा) बलवान् (अभिराष्ट्रः) राष्ट्र का अधिकर्त्ता राष्ट्र-शासक (विषासहिः) शत्रु पर प्रत्याक्रमणकारी होऊँ[1] (यथा) जिस से (अहम्) मैं (एषां वीराणाम्) इन वीरों-सैनिकों का (च) और (जनस्य) जनपद का-देश का[2] (विराजानि) ईश्वर हो जाऊँ-अधिपति हो जाऊँ[3] ॥ ६ ॥

त्रिंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा-आयुष्कामः (स्थिर जन आयु चाहने वाला)।

देवता—विश्वे देवाः (सर्व विषयों में प्रविष्ट विद्वान्)।

---

१. 'असानि' पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति ।

२. जनः अधिकरणे घञन्तः प्रयोगः । "मितां ह्रस्वः"

३. "अधिगर्थदयेशां कर्मणि" षष्ठी [अष्टा० २ । ३ । ५२]

विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन् ।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः ॥१॥

(विश्वे देवाः) सर्वज्ञान में प्रविष्ट विद्वानो ! (वसवः) राष्ट्रवासी जनो-प्रजाजनो ! (उत) और (आदित्याः) अदिति-अखण्ड सुखसम्पत्ति राष्ट्र की अखण्डता को सम्पादन करने वाले बनाए रखने वाले सैनिको-क्षत्रियो (इमं रक्षत) इस राजा-राष्ट्रपति की रक्षा करो (अस्मिन् यूय जागृत) तुम इसके निमित्त जागरूक रहो (इमं सनाभिः) इस समान सम्बन्धी (उत) और (वा) या (अन्यनाभिः) इस से अन्य वंश में उत्पन्न जन है (पौरुषेयः-वधः) उसका पुरुषघातक पुरुषों का घातक शस्त्र (मा प्रापत्) मत प्राप्त हो ॥ १ ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ २ ॥

(वः-ये देवाः पितरः-च सचेतसः पुत्राः) तुम्हारे में विद्वान्, पालक जन या पुत्र हैं वे तुम सब (मे-इदं वचः शृणुत) मेरे इस वचन को सुनो (एतं वः सर्वेभ्यः परिददामि) इस राजा को मैं पुरोहित सब के हित के लिये राजा के रूप में नियत करता हूँ (एनं स्वस्ति जरसे वहाथ) इसे जरावस्था तक कल्याण पहुँचाओ ॥ २ ॥

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु
पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान्
परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥

(ये देवाः- दिवि स्थ) जो विद्वान् द्युलोक के विषय में ज्योतिर्वित् हैं (ये पृथिव्याम्) जो पृथिवी लोक के सम्बन्ध में खनिजज्ञाता (ये-अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में मेघ वृष्टि वायु विद्युत के विषय में ज्ञानी है

(ओषधीषु) ओषधियों के विषय में ज्ञानी-वनस्पतिशास्त्री-वैद्य (पशुषु) पशुओं के सम्बन्ध में ज्ञानी हैं (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर ज्ञान रखने वाले हैं (ते-अस्मै) वे इस राजा के लिये (जरसम्-आयुः कृणुत) जरावस्था तक पूर्ण आयु वाला करो (अन्यान् शतं मृत्यून्-परिवृणक्तु) अन्य सैंकड़ों मृत्युओं-जरावस्था से पूर्व मृत्युओं को दूर रखें ॥ ३ ॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः ।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

(येषां वः) देवो ! जिन तुम्हारे में (प्रयाजाः) जो प्रकृष्टयजन करने वाले अध्यात्मयाजी हो[1] (उत वा) अपि-और जो (अनुयाजाः) आत्मा के अनुकूल यजन आचरण मनन आदि करने वाले मन आदि अन्तःकरण वाले मनस्वी जन (हुतभागाः) संयम से भोग करने वाली इन्द्रियों से युक्त संयमी ब्राह्मण[2] (अहुतादः-च देवाः) उन से भिन्न भोगरहित प्राणों वाले प्राणायामाभ्यासी योगी जन देव है (येषां पञ्च प्रदिशः-विभक्ताः) जिनकी पांच प्रदेश स्थितियां अलग-अलग हैं ऐसे वे योगी जन प्राणों के पांच भेद होने से प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान को सिद्ध करने वाले हैं (वः-तान्) तुम्हारे में उनको (अस्मै) इस राजा के लिये (सत्रसदः कृणोमि) सभासद् मैं पुरोहित करता हूँ-बनता हूं ॥ ४ ॥

एकत्रिंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (वैज्ञानिक)
देवता:—आशापालः (दिशाओं के रक्षक)

---

१. "आत्मा वै प्रयाजाः" [मै. ३ । ७ । २] तद्वन्तः'
२. "एता वै प्रजा हुतादो यद् ब्राह्मणाः" [ऐ. ७ । १९]

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

(आशानाम्) दिशाओं के[1] (चतुर्भ्यः-आशापालेभ्यः-अमृतेभ्यः) चारो दिशाओं के पालक-अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम नाम से परमात्मस्वरूप हैं उन अमररूपों—(भूतस्य-अध्यक्षेभ्यः-चतुर्भ्यः) निष्पन्न जगत् के चारों अध्यक्षों के लिये (इदं हविषा वयं विधेम) बस अब मनोभाव से[2] मनसा परिक्रमा से हम अनुष्ठान-उपासना करते है ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः ।
ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः ॥ २ ॥

(चत्वारः-देवाः स्थन) जो तुम आशापाल-दिक्पाल अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम नाम से परमात्मदेव हो (ते) वे तुम (नः) हमें (निर्ऋत्याः पाशेभ्यः) भूमि के बन्धनों या कृच्छ्रापत्ति[3] के पाशों से भोगव्याधियों से (अंहसः-अंहसः-मुञ्चत) प्रत्येक पाप से छुड़ाओ ॥ २ ॥

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥ ३ ॥

(आशानाम्) दिशाओं का (तुरीयः-आशापालः-देवः) तुरीय ब्रह्म सोम आशापाल देव है (सः) वह (नः) हमारे लिये (सुभूतम्-इह-आवक्षत्) इस जीवन में मोक्षैश्वर्य को लावे (त्वा) उस तुझ को (अस्रामः)

---

१. "आशाः—दिशः" [निघं. १ । ६]
२. मनो हविः" [तै. आ. १ । ६ । १]
३. "निर्ऋतिः पृथिवी" [निघं० १ । १] "निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्तिः) [निरु० २ । ८]

अविचल हुआ[1] (हविषा) मनोभाव से (यजामि) मैं यजन करता हूं (त्वा) तुझे (अश्लोणः) अकेला-एकान्तवासी एवं वासनाओं से अलग हुआ[2] (घृतेन जुहोमि) आत्मतेज से[3] ग्रहण करता हूं ॥ ३ ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥४॥

(नः-मात्रे-उत पित्रे स्वस्ति-अस्तु) हमारे माता और पिता के लिए कल्याण हो (पुरुषेभ्यः-गोभ्यः-जगते स्वस्ति) सब मनुष्यों के लिये गौओं के लिये जङ्गम मात्र के लिये कल्याण हो (नः-विश्वं सुभूतं सुविदत्रम्-अस्तु) हमारे लिये सब कल्याण और सब प्रकार का धन हो[4] (ज्योक्-एव सूर्यं दृशेम) चिरकाल तक यावज्जीवन सूर्य को देखें-सूर्य स्वरूप परमात्मा का अनुभव करें ॥ ४ ॥

द्वात्रिंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (खगोलवेत्ता) ।
देवता:—द्यावापृथिवी (द्युलोक पृथिवी लोक) ।

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥ १ ॥

---

१ "सृ गतौ" [भ्वादि०] आमक् प्रत्ययः औणादिकः पुनः नञ्समासः ।
२ "श्लोणृ संघाते" [भ्वादि०] ततोऽच् प्रत्ययः- पुनर्नञ्समासः ।
३ "तेजो वै घृतम्" [मै० १ । ६ । ८]
४ "सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वा एकोपसर्गात् ददातेर्वा स्याद्द्व्युपसर्गात्" [निरु० ७ । ९]

(जनासः) हे जनों ! (इदं विदथ) इस तत्त्व को समझो (महत्-ब्रह्म वदिष्यति) महान् ब्रह्म वेद को कहेगा—कहता है (तत्-पृथिव्यां न) वह पृथिवी पर नहीं (दिवि न-उ) द्युलोक में भी नहीं है (येन वीरुधः प्राणन्ति) जिसके द्वारा वनस्पतियाँ प्राणियों के लिये जीवन धारण करती हैं ॥ १ ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥ २ ॥

(आसाम्) इन वनस्पतियों का (स्थाम) गुप्त स्थान सूक्ष्म-भाव (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में है; (श्रान्तसदाम्-इव) थके हुओं का जैसे विश्राम स्थान होता है (अस्य भूतस्य) इस प्रादुर्भूत जगत् का (आस्थानम्) आश्रयस्थान भी है (तत् वेधसः-विदुः-न वा) उसको मेधावी जन[1] जानते हैं या अन्य नहीं भी जानते हैं ॥ २ ॥

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।
आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

(रोदसी रेजमाने च भूमिः-निरतक्षतम्) द्यावापृथिवी-द्युलोक पृथिवी-लोक[2] अथवा रोदसी-रोधसी-रोधन करने वाले विश्व के रोधक ऊपर नीचे या ओर छोर के दोनों भाग काम्पते हुए गति करते हुए दोनों के मध्य जगत् जिसमें प्राणी होते हैं वह भूमि भी प्रादुर्भूत करती हैं (तत्-अद्य-आर्द्रम्) वह आज भी आर्द्र-गीला है वनस्पतियों का सूक्ष्म रूप जो अन्तरिक्ष में था (सर्वदा समुद्रस्य-स्रोत्याः-इव) सदा समुद्र की स्रोतों नदियों की भांति वनस्पतियों में गति करता है ॥ ३ ॥

---

१ "वेधाः-मेधाविनाम" [निघं० ३ । १५]

२ "रोदसी द्यावापृथिवीनाम" [निघं० ३ । ३]

विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधि श्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

(विश्वम्-अन्याम्-अभीवार) अन्नरूप सूक्ष्म[१] अन्या-द्युलोक को प्रथम घेरता है (तत्-अन्यस्याम्-अधि-श्रितम्) फिर वह स्थूलरूप अन्या में-पृथिवी में आश्रित हो जाता है वनस्पतियों के रूप में (दिवे च) अतः द्युलोक के लिये और (विश्ववेदसे पृथिव्यै च) सब प्रकार धनवाली पृथिवी के लिये मैं स्वागत करता हूँ ॥ ४ ॥

त्रयस्त्रिंश ३३ वां सूक्त

ऋषिः—शन्तातिः (शान्ति करने वाला-कल्याणकारी)

देवता—आपः (सर्व दिव्यपदार्थ कारण-आकाश में प्राप्त प्रकाश धारा-आकाशगङ्गा)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥

(हिरण्यवर्णाः) सुनहरी रंग वाली-चमकीली (शुचयः) जाज्वल्यमान-शोभायमान (पावकाः) पवित्र एवं गतिप्रद (यासु) जिन में—जिसमें (सविता) सूर्य (जातः) उत्पन्न हुआ (यासुः-अग्निः) जिन में—जिसमें अग्नि उत्पन्न हुआ (याः-अग्निं गर्भं दधिरे) जो अग्नि तत्त्व को मध्य में धारण कर रही है (सुवर्णाः) सुनहरी (ताः) वे (आपः) आकाश में प्राप्त धारा (नः) हमारे लिये (स्योनाः-शं भवन्तु) सुखकारी कल्याणमय हों ॥ १ ॥

---

१ "अन्नं वै विश्वम्" [जै० ३ । १ । ३ । ६]

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना
भवन्तु ॥ २ ॥

(यासां मध्ये राजा वरुणः) जिनके मध्य मे परिधिमण्डल नामक वरुण (सत्यानृते अवपश्यन् याति) सब आकाशीय जायमान पिण्डों के सत्य-यथार्थ गति और असत्य-अनिज गति लक्ष्य करता हुआ प्राप्त रहता है (याः-अग्नि०) पूर्ववत् ॥ २ ॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं
या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥

(दिवि देवाः-यासां भक्षं कृण्वन्ति) द्युलोक में द्योतमान ग्रह उपग्रह जिनका भक्ष-पान करते हैं-सेवन करते हैं-पास जाते हैं (याः-अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति) जो आकाश में बहुत फैली हुई है । (याः-अग्नि००) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया
तन्वोपस्पृशत त्वचं मे ।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

(आपः) हे द्युलोक में आकाशगङ्गानामक 'आपः' आप्त धारा (शिवेन चक्षुषा) कल्याणकारी नेत्र से (मा पश्यत) मुझे देख-दीखा (शिवया-तन्वा) कल्याणकारी तनु-देह से (मे त्वचम्-उपस्पृशत) मेरी त्वचा को स्पर्श करो (घृतश्चुतः) दीप्ति या तेज को क्षरित करने वाले (याः-पावकाः-शुचयः) जो तुम पवित्र तथा दीप्तिमान् हो (ताः) वे

(आपः) आकाश में प्राप्त (नः) हमारे लिये (शं स्योना:-भवन्तु) कल्याणकारी सुखदायक होओ। यह आलङ्कारिक कथन है ॥ ४ ॥

चतुस्त्रिंश सूक्त

ऋषि:—अथर्वा (स्थिर जन)।

देवता:—मधुवनस्पतिः (मीठी वनस्पति)।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

(इयं वीरुत्) यह विरोहण करने वाली लता मुलहटी या लतासी आगे बढ़ने वाली मधुविद्या-आत्मविद्या (मधुजाता) मधु से-माधुरी प्रसिद्ध हुई या आत्मा से प्रसिद्ध हुई[1] (त्वा) तुझे (मधुना खनामि) मधु भाव से खोदता हूँ-या आविष्कृत करता हूँ (मधोः-अधि प्रजाताअसि) मधु-मृदुभूमि से प्रसिद्ध हुई है (सा) वह (नः-मधुमतः-कृधि) हमें मधुमान् कर दे-नीरोग या आनन्दवान् कर दे ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

(मे जिह्वायाः-अग्रे मधु) मधुलता-मुलहटी या मधु विद्या-आत्म विद्या के सेवन से मेरी जिह्वा के अग्र भाग पर मधु रस लगे-मधुरता हो (जिह्वामूले मधूलकम्) जिह्वा के मूल-जड़ में-कण्ठ में अत्यन्त मधुर-माधुर्य हो (मम क्रतौ-इत्-अह-असः) मेरे प्रत्येक कर्म में अवश्य ही माधुर्य हो (मम चित्तम्-उपायसि) मेरे चित्त को प्राप्त होती है ॥ २ ॥

---

१ "आत्मा वै पुरुषस्य मधु"।

मधु॑मन्मे नि॒क्रम॑णं मधु॑मन्मे प॒राय॑णम् ।
वा॒चा व॑दामि॒ मधु॑मद् भूया॒सं मधु॑सन्दृशः ॥ ३ ॥

(मे निक्रमणं मधुमत्) मेरा किसी कार्य में घुसना या प्रवेश मीठास वाला हो (मे परायणं मधुमत्) मेरा किसी कार्य से निवृत्त होना या निकलना मीठास वाला हो । (वाचा-मधुमत्-वदामि) वाणी से मीठास वाला वचन बोलूं (मधुसन्दृशः-भूयासम्) मैं मधुरूप हो जाऊं अपने लिये दूसरों के लिये भी मधुलता या मधुविद्या-आत्म-विद्या के सेवन से ॥ ३ ॥

मधो॑रस्मि॒ मधु॑तरो म॒दुघा॒न्मधु॑मत्तरः ।
मामित् किल॒ त्वं वना॒ः शाखां॒ मधु॑मतीमिव ॥ ४ ॥

(मधोः-मधुतरः-अस्मि) मधु से भी अधिक मधु-मीठा होऊँ (मधुघात्-मधुमत्तरः) मधु सीञ्चने-छोड़ने वाले पदार्थ मे भी[1] मधुवाला हो जाऊँ (माम्-इत् किल) मुझे अरे अवश्य (त्वम्) तू हे मधुलता-मुलहटी या मधु-विद्या-आत्म विद्या (वनाः) सम्भज-स्वीकार कर (मधुमती शाखाम्-इव) मधुवाली शाखा को जैसे मधु सम्भजता है स्वीकार करता है ॥ ४ ॥

परि॑ त्वा परित॒त्नुने॒क्षुणा॑गा॒मवि॑द्विषे ।
यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥ ५ ॥

(त्वा) हे मधुलता या मधुविद्या-आत्म विद्या तुझे (परितत्नुना) सब ओर व्यापने वाले (इक्षुणा) मीठे काण्ड के समान प्रेमभाव से (परि-अगाम्) सब प्रकार प्राप्त होता हूँ-अपनाता हूँ (अविद्विषे) द्वेषाभाव के लिये (यथा मां) जिससे मेरे प्रति (कामिनी-असः) कामना वाली-कामना पूरा करने वाली हो (यथा) जिस से (मत्) मेरे से (अपगाः-न-असः) पृथक् होने वाली न हो, यह भावना गृहस्थ को अपनी पत्नी के प्रति भी रखनी चाहिये ॥ ५ ॥

---

१ मधु-उपपदात्—"घृ सेचने" [भ्वादि०] ततः डः प्रत्ययः ।

पञ्चत्रिंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (आयुष्कामः) (स्थिर मनवाला आयु चाहने वाला)

देवता:—हिरण्यम् (रेतः-वीर्य[1]) ।

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय
शतशारदाय ॥ १ ॥

(यत्) यतः (सुमनस्यमाना) सुप्रसन्न मनवाले (दाक्षायणाः) दक्ष-प्रजापति परमात्मा[2] का अयन-मोक्ष।मार्ग वाले आचार्य लोग (शतानीकाय) बहुमुखी-प्रवृत्तिवाले (ते) तुझ विद्यार्थी के लिये (हिरण्यम्-आबध्नन्) अभीष्ट रेतः-वीर्य को सयमनीद्वारा समन्तारूप से बांधते हैं (तत्) उसको (ते) तुझ ब्रह्मचारी के लिये (बध्नामि) मैं साम्प्रतिक आचार्य बान्धता हूं (आयुषे) इस लोक में आयु प्राप्ति के निमित्त (वर्चसे) ब्रह्मवर्च-तेज के हेतु (बलाय) बल प्राप्ति के अर्थ (दीर्घायुत्वाय) लम्बी आयु मोक्ष आयु के वास्ते (शतशारदाय) ब्राह्म शतवर्ष के लिये ॥ १ ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते
देवानामोजः प्रथमजं ह्ये३तत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं
स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥

(यः) जो (देवानाम्-एतत्-ओजः प्रथमं हि) विद्वानों के इस प्रथम-प्रसिद्ध ओजरूप (दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति) मोक्षमार्ग विषयक रेतः-वीर्य को धारण करता है (एनम्) इसको (मा रक्षांसि) न राक्षस-बाहिरी

---

१ "रेतो हिरण्यम्" [मै० ३ । ७ । ५]

२ "अह प्रजापतिर्वै दक्षो नाम" [श० २ । ४ । ४ । २३]

प्राकृतिक आघातकारी (न पिशाचा:) न आन्तरिक मांस खाने वाले रोग-जन्तु (सहन्ते) सहन्ते-दबा सकते हैं (सः) वह (जीवेषु दीर्घम्-आयु-कृणुते) जीवों-मनुष्यों के मध्य में अपनी दीर्घायु करलेता है ॥ २ ॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि ।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

(अपाम्) प्राणों का[1] (तेजः) तेज (ज्योतिः) जीवनज्योति (ओजः) पराक्रम (बलं च) और शरीर धारण बल (उत) और (वनस्पतीनां वीर्याणि) वनस्पतियो-भोजन रसों के गुणों (अस्मिन्-इन्द्रे-इन्द्रियाणि) इस आत्मा मे इन्द्रियों को (अधिधारयामः) धारण करते हैं (तत्-हिरण्यम) उस वीर्य को (दक्षमाणः-विभरत्) बढ़ने के हेतु उसे धारण करे ॥ ३ ॥

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

(संवत्सरस्य) जीवन के संवत्सर-पूर्ण आयु के (ऋतुभिः) ऋतुओं सहित अर्थात् वसन्त आदि ऋतुओं के साथ (समानाम्) छः मास कल्पित अर्ध वर्षो-(मासाम्) मासों के (पयसा) रस-वीर्यरूप रस से पोषण रस से (त्वा) तुझे (वयं पिपर्मि) हम पूर्ण करते हैं[2] (इन्द्राग्नी-विश्वे देवाः) राजा आचार्य सब विद्वान् (ते) वे (अहृणीयमानाः) बिना क्रोध के वर्तमान (अनुमन्यन्ताम्) अनुकूल हों ॥ ४ ॥

इति प्रथम काण्ड
ब्रह्ममुनि भाष्य युक्त ॥

---

१ "आपो वै प्राणाः" [श० ३ । ८ । २ । ४]
२ "पिपर्मि" वचनव्यत्ययेन एकवचनं बहुवचने ।

द्वितीय काण्ड

❀—❀—❀

प्रथम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर चित्त वाला)

देवता—अग्निः (ब्रह्मात्मा)

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥

(वेनः) ब्रह्म का श्रवण मनन ध्यान करने वाला तथा स्तुतिकर्त्ता उपासक जन (तत् परमम्) उस श्रेष्ठ एवं महान् ब्रह्म को (गुहा सत्) हृदय गुहा में[1] (पश्यत्) देखता है[2] (यत्र विश्वं-एकरूपं भवति) जिस ब्रह्म में संसार एकरूप-प्रकृति हो जाता है (पृश्निः) प्रकृति का स्पर्श करने वाला उस में व्यापक परमात्मा (इदं-अदुहत्) इस एकरूप अव्यक्त प्रकृतिनामक उपादान को दूहता है-संसार को प्रकट करता है (जायमानाः-स्वर्विदः-व्राः-अभ्यनूषत) हे संसार में जन्म लेने वाले मोक्षसुख को प्राप्त होने वाले उसके वरणकर्त्ता उपासकों ! परमात्मा की भली भांति स्तुति करो ॥ १ ॥

---

१ "वेनृ ज्ञानचिन्तननिशामने" [भ्वादि०] ततः अच् कर्त्तरि । वेनति-अर्चति-कर्मा [निघं० ३ । १४] सुपां सुलुक्० [अष्टा० ७ । १ । ३९] इति सप्तम्याः लुक् ।

२ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः [अष्टा० ३ । ४ । ६] सामान्यकाले लङ् माङ्भावश्छान्दसः ।

प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥२॥

(गन्धर्वः-विद्वान्) गौ-स्तुति[1] वाणी को धारण करने वाला विद्वान् (गुहा) हृदय में (अमृतस्य) अमर परमात्मा का (यत्-तत्) जो वह (परमं धाम प्रवोचेत्) सर्वोत्तम श्रेष्ठ धाम का प्रवचन करता है-प्रस्तवन करता है (अस्य) इस परमात्मा के (त्रीणि-पदानि) तीन प्राप्तव्य स्वरूप[2] (गुहा निहिता) मोक्ष में एवं हृदय में निहित-छिपे हैं (तानि) उनको (यः-वेद) जो जानता है (सः पितुः-पिता-असत्) वह पिता का भी पिता है विशिष्ट ज्ञानवान् होने से ॥ २ ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वाः ॥ ३ ॥

(सः) वह परमात्मा (नः पिता जनिता) हमारा पालक जनयिता[3] (उत) अपि-और (बन्धुः) बन्धु-भ्राता आदि सम्बन्ध रखने वाला है (विश्वा धामानि भुवनानि वेद) समस्त कमनीय स्थानों लोकों को जानता है (यः) जो (देवानाम्) दिव्य गुणवाले अग्नि, सूर्य, वायु आदि प्रमुख पदार्थों का नाम धारणकर्त्ता नाम-स्थापित-नियुक्त करने वाला (एकः-एव) अकेला ही (तं सम्प्रश्नं) उस सम्यक् प्रश्न करने योग्य, विविध प्रश्नोत्तरों से जानने योग्य को (सर्वा भुवना यन्ति) सारे पृथिवी आदि लोकरूप पदार्थ प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः ॥ ४ ॥

---

२ गां स्तुति वाणीं धारयतीति-पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः ।

१ पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि [ऋ० १० । ९ । ३]

२ जनिता मन्त्रे [अष्टा० ६ । ४ । ५३]

(द्यावापृथिवी सद्यःपरि-आयम्) द्यावापृथिवीमयी सृष्टि के प्रति-अन्तर, मैं आत्मा तुरन्त आया हूं (ऋतस्य प्रथमजाम्-उपातिष्ठे) प्रकृतिरूप उपादान के प्रथम उत्पन्न अहङ्कारादि विकृति पर-विराजमान हो जाता हूं (वक्तरि वाचम्-इव) वक्ता में वाणी जैसे बैठ जाती है (भुवनेष्ठाः) लोक लोकान्तरों में स्थित (एष'-धास्युः) यह धारण करने वाला (ननु-एषः-अग्निः) निश्चय यह प्रकाशस्वरूप परमात्मा है ॥ ४ ॥

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

(ऋतस्य विततं तन्तुं दृशे कम्) प्रकृति के फैले हुए तन्तु-जाल के समान देखने को-देखने के लिये (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक लोकान्तरों के प्रति या उनमें (परि) परिक्रमण कर (देवाः-यत्) जीवन्मुक्त उपासक विद्वान् जहां-जिसके आश्रय (अमृतम्-आनशानाः) अमृत का भोग करते हुए (समाने योनौ) समान स्थान मोक्षधाम में साधिकार विचरते हैं ॥ ५ ॥

द्वितीय सूक्त

ऋषिः—मातृनामा (विश्व के माता-निर्माता के प्रति स्तुति करने वाला)

देवता—गन्धर्वाप्सरसः (पृथिवी पिण्डों को धारण करने वाली परमात्मा की व्यापन शक्तियां)

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥१॥

(दिव्यः-गन्धर्वः) प्रधानतया मोक्ष धाम में उपासक का आश्रयणीय तथा आरम्भसृष्टि में वेद वाणी का धारण कर्त्ता (यः) जो कि (भुवनस्य-पतिः) उत्पन्न वस्तुओं के आधार जगत् का स्वामी (एकः-एव) अकेला ही

वह (विश्रु नमस्यः-ईड्यः) प्रजाओं-मनुष्यों के निमित्त[1] इष्टसाधक स्नेह से स्वागत करने योग्य और स्तुति करने योग्य है (त्वां तं ब्रह्मणा यौमि) उस तुझ परमात्मा को ब्रह्म-वेद-मन्त्रानुष्ठान से प्राप्त करता हूं (दिव्य, देव नमस्ते) दिव्य देव परमात्मन् ! तुझे नमस्कार हो (दिवि) द्योतनात्मक मोक्षधाम में ते (सधस्थम्-अस्तु) तेरा सहवास है ॥ १ ॥

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।
मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥ २ ॥

(दिवि स्पृष्टः) मोक्षधाम में प्राप्त (यजतः) सङ्गमनीय (सूर्यत्वक्) सूर्यसमान ज्योतिर्मय स्वरूप वाला है (दैव्यस्य हरसः) देवों-मुक्तों से सम्बद्ध तेज का, तथा (भुवनस्य) संसार का (यः) जो (एकः-एव) एक ही (पतिः) स्वामी (नमस्यः) स्तुत्य (सुशेवाः) सुन्दर सुखदाता (गन्धर्वः) वेदवाणी का धारक परमात्मा (मृडात्) सुखकर हो ॥ २ ॥

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ ३ ॥

(गन्धर्वः) वेदवाणी का धारक परमात्मा (आभिः-अनवद्याभिः) इन निर्दोष-निर्बाधज्ञानरश्मियों-ऋचाओं के साथ (संजग्मे-उ) सङ्गत हैं (अप्सरासु-अपि-आसीत्) कारण कि वह परमात्मा ज्ञानरश्मिओं-ऋचाओं में वर्णित है (आसां सदनं समुद्रः) इन ज्ञानरश्मिओं-ऋचाओं का स्थान पुरुष-परमपुरुष परमात्मा है जो संसार में पूर्ण है-भरा हुआ व्याप्त है[2] (मे-आहुः) ऐसा मुझे बताते हैं (यतः सद्यः-आयन्ति परा च) जहां से ज्ञानरश्मियां आती हैं और चली जाती हैं ॥ ३ ॥

---

१ निमित्तसप्तमी

२ पुरुषो वै समुद्रः [जै० ३ । ६ । ७ । ५]

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

(अभ्रिये) मेघ में होने वाली तथा (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में होनेवाली (दिद्युत्) दीप्तियां[1] (याः) जो हों तुम (विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे) विश्व में बसे या विश्व को आच्छादित करने वाले वेदवाणियों के धारक परमात्मा को समवेत करती हैं-उसकी चमकाई हुई चमकती हैं । (देवीः-वः-ताभ्यः) हे दिव्यगुणवाली शक्तियो ! उन तुम्हारे लिये (नमः-इत् कृणोमि) सद्भाव प्रदर्शित करता हूं ॥ ४ ॥

याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

(याः क्लन्दाः) जो नास्तिक बलवान् को रुलानेवाली आस्तिक भाव भर देने वाली (तमिषीचयः) बलवत् व्यवस्थाएं अज्ञानान्धकार नष्ट करने वाली ज्योति शक्तियां (अक्षकामाः) इन्द्रियों की कामपूरक (मनोमुहः) मन को मोहनेवाली-आस्तिक भाव भरने वाली है (ताभ्यः) उन ऐसी (गन्धर्वपत्नीभ्यः) परमात्मा से पालित (अप्सराभ्यः) संसार में व्याप्त-फैली हुई शक्तियों के लिए (नमः-अकरम्) स्वागत-उपयोग करता हूं ॥ ५ ॥

तृतीय सूक्त

ऋषिः—अङ्गिराः (अङ्गों को स्वास्थ्य की ओर प्रेरित करने वाला चिकित्सक)

देवता—आस्रावभेषजम् (क्षत के बहने की चिकित्सा)

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।
तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥

---

१ व्यत्ययेन बहुवचने-एकवचनं सम्बोधने ।

(अदः) वह (यत्) जो (पर्वतात्-अधि) पर्वत से नीचे (अवत्कम्) गिरनेवाला जलस्रोत[1] (अवधावति) गिरता है (ते) तेरा (तत्) उसे (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूं (यथा) जैसे (सुभेषजम्) उत्तम चिकित्सा योग्य (असिस) हो जावे ॥ १ ॥

आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते ।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

(अङ्ग) हे जलस्रोत ! (आत्) तेरे निकलने के अनन्तर (अङ्ग) हे गतिशील ! (कुवित्) बहुत[2] (शतम्) सैकड़ो (ते या भेषजानि) तेरी जो ओषधियां-तुझसे उत्पन्न हुई जो ओषधियां हैं (त्वम्) तू (तेषाम्) उनमें (उत्तमम्) उत्तम (अनास्रावम्) बहते घाव को रोकने वाला (अरोगणम्) रोग को दूर करने वाला भेषज (असि) है ॥ २ ॥

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुःस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

(असुराः) खोद खोद कर फेंकने वाले जन[3] (अरुःस्राणम्) घाव को पकाकर ठीक करने वाले (इदं महत्) इस जल को[4] (नीचैः-खनन्ति) नीचे खोदते हैं (तत्) वह यह (आस्रावस्य) बहने वाले घाव का (भेषजम्) औषध है (तत्-उ) वह अवश्य (रोगम्) रोग को (अनीन-शत्) नष्ट करता है ॥ ३ ॥

---

१ अवत्-अवधा से क्विप् "अञ्चल्यपि-आकारलोपश्छान्दसः" पुनरल्पार्थे कःप्रत्ययः ।

२ कुवित् बहुनाम [निघ० ३ । १]

३ असेस्सरट् [उणादि० १ । ४२]

४ महत्-उदकनाम [निघ० १ । १२]

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

(उपजीकाः) उपजिह्विकाएं-वम्रियां-दीमकें (समुद्रात्-अधि) समुद्र या जलाशय से-उसके तट से (भेषजम्) गीली गीली मिट्टी के रूप में औषध को (उद्भरन्ति) ऊपर उभारती हैं (तत्-आस्रावस्य भेषजम्) वह बहते घाव का भेषज-अच्छा करने वाला है (तत्-उ) वह ही (रोगम्-अनीनशत्) रोग को नष्ट करता है ॥ ४ ॥

अरुःस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भृतम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

(पृथिव्याः-अधि) पृथिवी में से (उद्भृतम्) उभरी हुई-निकली हुई (इदम्) यह (महत्-अरुःस्राणम्) बहुत घाव को पकाकर ठीक करने वाली मिट्टी-कृष्ण मिट्टी (तत्-आस्रावस्य भेषजम्) वह बहते घाव का औषध है (तत्-उ) वह निश्चय से (रोगम्-अनीनशत्) रोग को नष्ट करती है ॥ ५ ॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद् विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

(आपः शिवाः-ओषधयः) जल उत्तम औषधियां हैं वह (नः) हमारे लिए (शं भवन्तु) कल्याणकारी हो (इन्द्रस्य वज्रः) जल इन्द्र का वज्र है[1] (रक्षसः) रक्त आदि के भक्षक कृमियों को (अपहन्तु) नष्ट करे (रक्षसां विसृष्टाः-इषवः) दुष्टों के फैंके हुए वाण आदि शस्त्र (आरात् पतन्तु) दूर गिरें-बाण आदि के घाव ऐसे अच्छे हो जावें मानो वे हमारे लगें ही नहीं किन्तु हमसे दूर गिरे हैं ॥ ६ ॥

---

१ वज्रो वा आपः [शत० १ । १ । १ । १७]

चतुर्थ सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला योगी)

देवताः—जङ्गिडमणिः (सोमरसगोली[1])

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥

(वयम्) हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न होते हुए (सदा-एव) सदा ही (दक्षमाणाः) बढ़ते हुए[2] (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (बृहते-रणाय) महान् रमण के लिये (विष्कन्धदूषणम्) स्कन्धों-जोड़ों के शैथिल्य रोग को दूर करने वाले (जङ्गिडमणिम्) अन्तःस्थल में तथा आत्मा में उन्नति की तरङ्गों को उठाने वाली सोमरस क्रिया से बनी मणि-गोली-टिकिया को (बिभृमः) धारण-सेवन करते हैं ॥ १ ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

(सहस्रवीर्यः-जङ्गिडः-मणिः) बहुत शक्तिवाला सोमरस-गुटिकारूप जङ्गिड (जम्भात्) नाश से-क्षय से-देहपात से (विशरात्) शरीर के छिन्न-भिन्न टूटने से (विष्कन्धात्) स्कन्धों-जोड़ों के शिथिलभाव से (अभिशोचनात्) मोह आदि मानसिक रोग से (नः) हमारी (विश्वतः) सब ओर से (परिपातु) भली प्रकार रक्षा करे ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः ।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

---

१ दीर्घायुत्वाय इति चान्द्रमसमुत जङ्गिडदेवताकम् [अथर्वबृहत्० २।४।१३]
२ दक्ष वृद्धौ [भ्वादि०]

(अयम्) यह (जङ्गिडः) जङ्गिड (विष्कन्धं सहते) स्कन्धों जोड़ों के शिथिल करने वाले रोग एवं विषप्रयोग को सहता है-निर्बल कर देता है (अयम्) यह (अत्रिणः-बाधते) राक्षसों-रुधिर मांस भक्षक[1] कृमियों को नष्ट कर देता है (अयं विश्वभेषजः) यह सब रोगों का औषध (नः) हमें (अहंसः) दोष से-दूषित रोग से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

(देवैः-दत्तेन) देवों-दिव्यगुण आकाशस्थ पदार्थों के द्वारा दी हुई-(मयोभुवा) सुख सम्पादक (जङ्गिडेन मणिना) जङ्गिड-मणि से (विष्कन्धम्) जोड़ों को शिथिल-निःसत्त्व करने वाले तथा विषाक्त रोग को (व्यायामे) पौरुष संघर्ष के अवसर पर (सहामहे) हम सहते हैं-उनके प्रभावों से रहित होते हैं ॥ ४ ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

(शणः-च) शण और (जङ्गिडः-च) और जङ्गिड सोमरसक्रियाबटी (विष्कन्धात्) जोड़ों के शैथिल्य रोग से-विषप्रयोग से (मा) मेरी रक्षताम् रक्षा करें (अरण्यात्-अन्यः) वन से लाया प्राण देने योग्य (आभृतः) लाया हुआ (रसेभ्यः अन्य) रसों से बना प्राण देने योग्य है ॥ ५ ॥

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

(अयं-जङ्गिडः-मणिः) यह जङ्गिडमणि (कृत्यादूषिः) हिंसक क्रिया-विषप्रयोग को दूषित करने वाली है (अथ-उ) तथा (अरातिदूषिः)

---

1 अत्रिणो वै रक्षांसि [ष० ३ । १]

पौष्टिक अवयवों को-ह्रास करने वाले कृमियों को नष्ट करने वाली है (अथ-उ) और फिर (सहस्वान्) उक्त दोषों को दूर करने वाली-बल सम्पन्न करने वाली क्रिया से बनी गुटिका (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (तारिषत्) आगे बढ़ावे ॥ ६ ॥

यहां जङ्गिडमणि अर्थात् सोमरसक्रिया गुटिका के गुण बताये हैं कि दीर्घायु, स्वास्थ्य पुष्टि देने वाली, विषप्रयोग और शरीर ह्रास-क्षय का निवारक शरीर के अन्दर रुधिर, मांसभक्षक कृमियों की नाशक है। वह यह सोमरसक्रिया शण के योग से बनाई हुई लक्षित होती हे। उसके धारण सेवन से उड़नशील गन्ध और रस श्वास के साथ फुफ्फुसों के अन्दर जाने से लाभ होता है ॥

पञ्चम सूक्त

ऋषिः—आथर्वणो भृगुः (स्थिरवृत्ति पिता का पुत्र या गुरु का शिष्य ज्ञानी तेजस्वी)

देवता:—इन्द्रः (ऐश्वर्यवान् राजा)

इन्द्र॑ जु॒षस्व॒ प्र व॒हा या॑हि शूर॒ हरि॑भ्याम् ।
पिबा॑ सु॒तस्य॑ म॒तेरि॒ह मधो॑श्चका॒नश्चारु॒र्मदा॑य ॥ १ ॥

(शूर-इन्द्र) हे शूरवीर राष्ट्रस्वामी-विद्युत्शक्तिमान् सेनानी ! (जुषस्व) हम प्रजाजनों से प्रीति कर (प्रवह) राष्ट्र का प्रबल रूप से वहन कर (हरिभ्याम्-आ याहि) अपनी दोनों सभा और समिति के द्वारा या विद्युत् की धाराओं के द्वारा समन्त रूप से प्राप्त हो या सङ्ग्राम में जा (इह मतेः सुतस्य मधोः पिब) यहां ऊंची मननशक्तिप्रद सम्पन्न किए नयनिष्कर्ष

या सोमरस का पान कर (मदाय) जन हर्ष के लिए (चारुः-चकानः) सुन्दर तृप्ति कारक कामना पूरक बन[1] ॥ १ ॥

इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥

(इन्द्र) हे राजन् ! या विद्युत्-शक्ति सम्पन्न सेनानी ! तू (नव्यः-न) सम्प्रति[2] प्रशंसनीय है (दिवः-मधोः-न) दिव्य मधु के पान से (जठरं पृणस्व) अपने अन्तःस्थल को पूर्णकर-भर (अस्य सुतस्य) इस सम्पन्न किए सुख-आनन्द तथा (सुवाचः-मदाः-त्वा-अगुः) प्रशंसित आनन्द तुझे प्राप्त हों ॥२॥

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
बिभेद बलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥ ३ ॥

(यः-तुराषाट्-मित्रः-इन्द्र) जो तुरन्त शत्रु पर प्रभावक परे भगा देने वाला-परास्त करने वाला राजा या विद्युत्-शक्ति सम्पन्न सेनानायक (यतीः-न वृत्रं जघान) यतिजन[3] संयमी जन की भाँति-जितेन्द्रिय-इन्द्रियों का जय करने वालों की भांति राष्ट्र को घेरने वाले शत्रु को मारता है (भृगुः-न बलं बिभेद) भर्जनशील-प्रतापी सूर्य जैसे घेरने वाले अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देता है ऐसे (शत्रून् ससहे) शत्रुओं को दबाता है-नष्ट कर देता है (सोमस्य मदे) अपने राष्ट्र के प्रभुसत्तासम्पन्न के हर्ष में-प्रोत्साह में-सत्तावान् होकर ॥ ३ ॥

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः ।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

---

१ चक तृप्तौ [भ्वादि०] "चकमानः" कान्तिकर्मा [निघ० २ । ६] छान्दसः प्रयोगः ।

२ नकारः सम्प्रत्यर्थे [निरुक्त]

३ यतीः-यतयः-संयतमनसः-छान्दसो मतुबर्थे

(इन्द्र) हे राजन् ! या सेनानायक ! (सुतास:) ये नव तैयार किये गये सैनिक जन (त्वा-आविशन्तु) तुझे सुगम रूप से प्राप्त हों-तेरे शासन में रहे (कुक्षी पृणस्व) अपनी दोनों ओर की दिशाओं को इनसे भर (शक्र) हे शक्तिमन् ! (न:-धिय:-आ-इहि विवृड्भि) हमारे लिए क्रिया शक्ति से-शासन प्रक्रिया से समन्त रूप से प्राप्त हो-प्रबुद्ध हो। "विवृद्धि:" [सायण:] (इन्द्र हवं श्रुधि) हे राजन् ! प्रार्थना को सुन-स्वीकार कर (मे गिर:-जुषस्व) मेरी स्तुतियों को सेवन कर (स्वयुग्भि:-महे-रणाय-इह मत्स्व) स्व योजनाओं से इस राष्ट्र में महान् रमण के लिए आनन्द कर-हमें आनन्दित कर ॥ ४ ॥

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ५ ॥

(इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्रवोचम्) मैं राजपुरोहित राजा के पराक्रमों का प्रवचन करता हूं[1] (यानि प्रथमानि वज्री चकार) जिन प्रसिद्ध पराक्रमों का राजपद पर विराजमान ओजस्वी[2] राजा करता है-क्रिया करता है अर्थात् करना चाहिए (अहिम्-अहन्) मेघ को किन्हीं स्थानों से ताड़ित करे (अप:-अनु ततर्द) जलों को अनुकूल रूप-स्वराष्ट्र में प्रवाहित करें (पर्वतानां वक्षणा:-अभिनत्) पर्वतों के संघात[3] जोड़ों-घाटियों को तोड़े-जलों को राष्ट्र में बहाने तथा पर्वतों में मार्ग बनाने के लिए ॥ ५ ॥

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनव: स्यन्दमाना अञ्ज: समुद्रमव जग्मुराप: ॥ ६ ॥

---

१ छन्दसि लुङ्लङ्लिट: [अष्टा० ३ । ४ । ६] सामान्य काले लङ् ।

२ वज्रो वा ओज: [शत० ८ । ४ । १ । २०]

३ "वक्ष संघाते" [भ्वादि०]

(पर्वते शिश्रियाणम्-अहिम्-अहन्) जैसे इन्द्र-विद्युत्-मेघ में आश्रय लिए जल को[1] ताड़ित किया करता है (त्वष्टा-अस्मै स्वर्यं वज्रं ततक्ष) सूर्य ने गर्जन उपताप करने वाले वज्र को घड़ा है, पुनः (वाश्राः-धेनवः-इव) रम्भाती हुई गौओं की भाँति (स्यन्दमानाः-आपः-समुद्रम्-अवजग्मुः) बहते हुए जल समुद्र को प्राप्त हो जाते हैं या मिल जाते हैं ॥ ६ ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वापिबत् सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

(मघवा) राजसूय यज्ञ को प्राप्त हुआ नवराज[2] (वृषायमाणः) सांड के जैसा बलवान् साहसी बन (त्रिकद्रुकेषु) तीन पृथिवी[3]-प्रथित अधिकृत स्थानों-निज गृह, सभास्थान और राष्ट्र में अथवा स्थल, जल, गगन पर अधिकार के निमित्त (सोमम्-अवृणीत) अपने को सम्राट्[4] वरे-स्वीकार करे-माने (सुतस्य-अपिबत्) सम्पन्न स्वाधीन साम्राज्य का उपभोग एवं पालन करे, तदर्थ (सायकं वज्रम्-आदत्त) शत्रुनाशक वज्र-शस्त्र को पकड़े (अहीनां प्रथमजाम्-एनम्-अहन्) आघातक शत्रुओं या सर्पसमान छिपे आक्रमणकारियों के प्रथम प्रसिद्ध-प्रमुख को नष्ट करे ॥ ७ ॥

---

१ अहिः-उदकनाम [निघ० १ । १२]

२ यज्ञेन मघवान् [तै० सं० ४ । ४ । ८ । १२]

३ इयं पृथिवी कद्रूः [तै० सं० ६ । १ । ६ । ५]

४ स यदाह सम्राडिति सोमं वा एतदाह [१ । ५ । १३]

षष्ठ सूक्त

ऋषि:—"शौनक: सत्यकाम:" (ऐश्वर्येच्छुक प्रगतिकर्त्ता या सुखीवंशज[1])

देवता—अग्नि: (अग्रणेता)

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१॥

(अग्ने) हे आगे बढ़ने वाले-जीवन में उठने और उठाने वाले नेता (त्वा) तुझे (समा) षण्मास का अन्नपक्व समय (संवत्सरा:) वर्ष (वर्धयन्तु) बढ़ावे (ऋषय:-यानि सत्या) प्राण, सृष्टि के जीवनप्रद-तत्त्व जो यथावत् नियमन कर्म हैं वे भी बढ़ावें (दिव्येन रोचनेन) अलौकिक प्रकाश से तेज से (संदीदिहि) प्रकाशित हो चमक[2] (विश्वा:-चतस्र:प्रदिश:-आभाहि) समस्त अपने चारों ओर रहने वालों पर अपने तेज को डाल-अपने गुण प्रभाव से उन्हें योग्य बना, अपने अनुकूल बना ॥ १ ॥

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

(अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (सम्-ईध्यस्व च) सम्यक् तेजस्वी हो और (इमं प्रवर्धय च) इस समाज को बढ़ा भी (महते सौभगाय-उत्तिष्ठ-च महान् सौभाग्य के लिये उठ (ते-उपसत्तार:) तेरे पास बैठने वाले (मा रिषन्) तेरे आश्रय में मत पीडित हों (अग्ने) हे अग्रणेता (ते ब्रह्माण:) तेरे ब्रह्मज्ञानी (यशस: सन्तु) यशस्वी हों (मा-अन्ये) मत अन्यजन-यशस्वी नहीं होते हैं जो ब्रह्मज्ञानी नहीं होते ॥ २ ॥

---

१ शुन गतौ [तुदादि०] शौनक: ण्वुलप्रत्ययान्त:-आर्षप्रयोग: यद्वा शुनं सुख-नाम [निघ० ३ । ६] संज्ञायां कन् [अष्टा: ५ । ३ । ७५] शुनकस्य ।

२ "दीदयति ज्वलतिकर्मा" [निघ० १ । १६]

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥

(अग्ने) हे अग्रणेता ! (इमे ब्राह्मणाः) ये ब्राह्मणजन (त्वा वृणते) तुझे वरते-प्रमुख नेता के रूप में मानते है, निर्धारित करते हैं (अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (संवरणे) इस संवरण-सम्यक् वरण में-निर्धारण में-निर्धारण होने पर (नः) हमारे लिये (शिवः-भव) कल्याणकारी हो (अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (सपत्नहा) शत्रुनाशक (अभि-मातिजित्) स्वराष्ट्र में अभिमत्त हुए पापीजन[1] को जीतने वाला (भव) हो (स्वे गये) अपने घर में[2] अपने नेतृपद पर (अप्रयुच्छन्-जागृहि) विना प्रमाद के जागता रह सावधान रह ॥ ३ ॥

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥

(अग्ने) हे नव राजकुमार अग्रणेता ! तू (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षत्र-क्षतत्राण करने वाले राजधर्म के साथ (संरभस्व) सम्भल-सज्जित हो (मित्रधाः) मित्रों को धारण करने वाले (मित्रेण) मित्रभाव से एवं प्रेरक भाव से (यतस्व) यत्न कर या गति कर[3] (सजातानां राज्ञाम्) सजात-समान साथियों राजाओं के (मध्यमे स्थाः) मध्य में रहता हुआ (अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (इह विहव्यः-दीदिहि) यहाँ राष्ट्र में विशेष आदान स्वीकार करने योग्य या विशेष आह्वान करने योग्य-आमन्त्रण सत्कार योग्य हुआ प्रकाशित हो-प्रसिद्ध हो-चमक ॥ ४ ॥

अति निहो अति स्रिधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

---

१ "पाप्मा वा अभिमातिः" [तै० सं० २ । १ । ३ । ५]
२ "गयं गृहम्" [निघ० ३ । ४]
३ "यतते गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] ।

(अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (निहः-प्रति) गुप्त हनन करने वाली वासनाओं को दूरकर या उन पर अधिकार कर विजय पा (स्रिधः- प्रति) शोषण एवं क्षीण[1] करने वाली भावनाओं को जीत (अचित्तीः-प्रति) मोहक-वृत्तियों को परास्त कर (द्विषः-प्रति) द्वेष भावनाओं को हटा (विश्वा दुरिता हि तर) सारी दुर्गतियों को पार कर (अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयिं त्वं दाः) अनन्तर हमारे लिये वीरपुत्रों के साथ रहने वाले धन को-अधिक-काल तक चलने-पुत्रों तक चलने वाले धन भूमि आदि स्थिर धन को प्रदान कर ॥ ५ ॥

सप्तम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर जन)

देवताः—दूर्वा वनस्पतिः (वनस्पति दूव)

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥

(अघद्विष्टा) पापरोग-अधोदेश के अर्श-बवासीर आदि रोग को द्वेष करने वाली दूब-ओषधि (देवजाता) स्वतः वृष्टिद्वारा स्वयं जाता=मनुष्यादि से कृषि द्वारा उत्पन्न न होकर बिना मनुष्य के स्वयं उत्पन्न हुई (वीरुत्) फैलने वाली ओषधि (शपथयोपनी) मन के दुर्वचन को पश्चात्ताप मिटाने वाली ओषधि है (आपः-मलमिव) जल जैसे मल शोध देता है ऐसे (सर्वान् शपथान्-अधि प्राणैक्षीत्) सारे दुर्वचनों को अन्दर शोध देता है। दूब का स्वरस तथा दुर्वारसक्रिया अर्श को, मानस दुर्भाव को नष्ट करती है ॥ १ ॥

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥

---

1 स्रेधति क्षीयते [ऋ० ५ । ५४ । ७ ॥ महर्षि दयानन्द]

(यः सापत्नः शपथः) जो शत्रुरूप बन्धु का अहितवचन (च) और (यः-जाम्याः शपथः-च) जो बहिनरूप स्त्री का अहितवचन (यत्) जो (ब्रह्मा) गुरुजन (मन्युतः) मन्यु से (शपात्) हमारी भूल से अहितवचन बोले (सर्वं तत्) वह सब (मे-अधस्पदम्) मेरे पैर के नीचे पहुंचे-मेरे अन्दर से बाहिर निकल जावे ॥ २ ॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥

(दिवः) द्युलोक से-ऊपर वर्षा द्वारा आकर (पृथिव्याः-अधि) पृथिवी पर (उत्तमं मूलम्-अवततम्) इस दुर्वा-दूब का मूल फैल गया (तेन सहस्रकाण्डेन) उस बहुत काण्ड से (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परिपाहि) पूर्णरूप से रक्षाकर ॥ ३ ॥

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद् धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

(मां परिपाहि) मुझे परिरक्षित कर (मे प्रजां पाहि) मेरी प्रजा को परिरक्षित कर (नः-यत्-धनं पाहि) हमारा जो धन है उसको भी परिरक्षित रख (नः-अरातिः-मा तारीः) हमारा अ-राति-न देने अपितु लेने छीनने वाला मत आगे बढ़े-आक्रमण करे (नः-अभिमातयः-मा तारिषुः) हमारे पर अभिमानी आक्रमणकारी जन्तु मत आक्रमण करे ॥ ४ ॥

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त्तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

(नः शप्तारं शपथः-एतु) हमारे प्रति अहित वचन वक्ता को अहित वचन प्राप्त हो (यः-नः सुहार्द् तेन सह नः) जो सुहृदय-सुमित्र है उसके साथ हमारा सौहार्द मित्रभाव हो (चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः) आंखों में मन्त्रणा अहित

गुप्तसङ्गति वाले दुष्ट जन की (पृष्टीः-अपि शृणीमसि) पसलियां भी हम तोड़ देवें ॥ ५ ॥

अष्टम सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (ज्ञानदीप्त अङ्गों का संयमी जन)

देवता—क्षेत्रियक्ष्मकुष्ठनाशनः (जन्म के यक्ष्म कुष्ठ को नष्ट करना)

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

(भगवती) ऐश्वर्यवाले (विचृतौ नाम तारके) स्पष्ट ग्रन्थित-पिण्डरूप[1] सूर्य चन्द्र ग्रह (उदगाताम्) उदय होते हैं । निकलते हैं वे दोनों (क्षेत्रियस्य) क्षेत्रिय रोग के (अधमं पाशम्) अधम बन्धन को (विमुञ्चताम्) छुड़ाते हैं । सूर्य और चन्द्रमा क्षेत्रिय अर्थात् माता पिता से प्राप्त या जन्म के रोग को नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यपे क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥

(इयं रात्री) यह रात्रि (अप-उच्छतु) समाप्त होवे (अभि-कृत्वरीः) उषा भी (अप-उच्छतु) समाप्त हो जावे, बस तभी (क्षेत्रियनाशनीः) क्षेत्रिय रोग को नष्ट करने वाली (वीरुत्) ओषधि से[2] (क्षेत्रियम्-अप-उच्छतु) क्षेत्रियरोग समाप्त हो जावे ।

रात्रि और उषा के पीछे का प्रभात भी क्षेत्रिय रोग को हटाने में उपयोगी है ॥ २ ॥

---

१ "चृती हिंसाग्रन्थनयोः" [तुदादि]

२ टा विभक्तेलुंक् "सुपां सुलुक्...." [अष्टा० ७ । १ । ३९]

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥

(बभ्रोः) सोम का[1] (अर्जुनकाण्डस्य) अर्जुन वृक्ष का अथवा (अर्जुनकाण्डस्य बभ्रोः) अर्जुन वृक्ष के भूरे रंग वाली छाल का (यवस्य पलाल्या) जो की मञ्जरी-कच्ची बाल के साथ (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिल की मञ्जरी-कच्ची तिलबाल के साथ (ते) तेरे लिये (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियनाशनी) क्षेत्रिय नाशनी है, उससे (क्षेत्रियम्-अप-उच्छतु) क्षेत्रिय रोग नष्ट हो जावे ॥ ३ ॥

सोम, अर्जुनवृक्ष या अर्जुनवृक्ष की छाल जौ और तिल की कच्ची बाल क्षेत्रिय रोग को दूर करने वाले हैं, औषध सेवन में अर्जुन की छाल का चूर्ण, भोजन में जौ, उबटने में तिलपिष्टी, मर्दन में तिल तेल ये जन्म के कुष्ठ, क्षय आदि रोगों को दूर करते हैं ।

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

(लाङ्गलेभ्यः-नमस्ते) भूमि में घुसने वाले लोहे के फालयुक्त भागों के लिये स्वागत (ईषायुगेभ्यः-नमः) लाङ्गल और जुए के मध्य में वर्तमान लम्बे दण्डे और जुओं के लिये स्वागत हो । बस यह (वीरुत् क्षेत्रियनाशनी) ओषध क्षेत्रिय रोग को नष्ट करने वाली है इससे (क्षेत्रियम्-उच्छतु) क्षेत्रिय रोग दूर हो जावे ॥

क्षेत्रियरोग रोगी का हल चलाने, उखड़ती हुई ताजी मिट्टी की गन्धश्वास द्वारा सेवन होने से क्षेत्रिय रोग नष्ट हो जावे ॥ ४ ॥

---

१ "सोमो वै बभ्रुः" [श० ७ । २ । ४ । २६]

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यो नमः क्षेत्रस्य पतये ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

(सनिस्रसाक्षेभ्यः) पुनः पुनः गतिशील अक्षों वाले शकटों के लिये अथवा अत्यन्तगतिशील चरणरूप इन्द्रियो वाले हालियों के लिये[1] (नमः) स्वागत हो (संदेशेभ्यः) हांकने योग्य बैलों के लिये (नमः) स्वागत हो (क्षेत्रस्य पतये नमः) भूमि के स्वामी-भूमिमान्-भूमिहार-जमींदार के लिये स्वागत हो, क्योंकि खेत जोतनारूप क्रिया (वीरुत्)-ओषधि (क्षेत्रिय-नाशनी) क्षेत्रियरोग को नष्ट करने वाली है उससे (क्षेत्रियम्) क्षेत्रिय रोग (अप-उच्छतु) दूर हो जावे ।

श्लेष से यहाँ क्षेत्र-खेत के दोष को दूर करने का भी वर्णन जानना चाहिए । जिस खेत में उपजाऊ शक्ति न रही हो या न हो उसमें अर्जुन वृक्ष की कोमल कोमल शाखाओं जौ की नालों तिल की लकड़ियों को सड़ाकर या जलाकर खाद रूपमें दे, शुक्ल पक्ष की रात्रियों ने उषाकाल में हल चलाकर जोते बीज बोए तो उसमें उपजाऊ शक्ति आ सकती है ऐसा भी ध्वनित होता है ॥ ५ ॥

नवम सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (तेजस्वी संयमी)

देवता—वनस्पतिः (ओषधि)

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

---

१ "संसति गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] ।

(दशवृक्ष) हे दशमूल ! (इमम्) इस रोगी को (रक्षसः-ग्राह्याः-अधि) रक्षा जिस से करनी चाहिए, ऐसे वातरोग की बन्धनी से-पकड़ से-गृध्रसी से-गठिया से (मुञ्च) छुड़ा (या) जोकि (एनम्) इस मनुष्य को (पर्वसु) जोड़ो में (जग्राह) पकड़ती है (वनस्पते) हे ओषधे ! तू (अथो) पुनः (एनम्) इसको (जीवानां लोकम्) जीवितों के संघ में (उन्नय) उन्नत कर ॥ १ ॥

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

(अयम्) यह मनुष्य (अगात्) दशमूल के सेवन से वातव्याधि की बन्धनी से छूट आता है (उदगात्) उन्नत हो जाता है (जीवानां-व्रातम्) जीवों-मनुष्यों के समाज मे परिवार मे (अपि-अगात्) प्राप्त हो जाता है (पुत्राणां पिता) पुत्रों का पिता (च) और (नृणां भगवत्तमः) पौत्र आदियों के मध्य[1] अत्यन्त भाग्यवान् हुआ विराजता है ॥ २ ॥

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

(अयम्) यह (अधीतीः) मस्तिष्क में स्मर्तव्य बातों को (अध्यगात्) स्मरण करता है (जीवपुराः) जीवों-मनुष्यों को पूरण करने वाली-तृप्त करने वाली इन्द्रियशक्तियों को (अध्यगात्) प्राप्त हो जाता है (अस्य) इसके (शत हि) सैकड़ों ही (भिषजः) चिकित्सक हैं (उत) तथा (वीरुधः) ओषधियां (सहस्रम्) सहस्रों है ॥ ३ ॥

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥ ४ ॥

---

१ "प्रजा वै नरः" [ऐ० २ । ४]

(देवाः) देव (ब्रह्माणः) चिकित्सक (उत) तथा (वीरुधः) ओषधियां (ते) तेरे लिये (चीतिम्) संवरण संरक्षण स्वास्थ्य को (अविदन्) जानते या प्राप्त करते हैं (विश्वेदेवाः) समस्त देव (भूम्याम्-अधि) पृथिवी पर (ते) तेरे लिये (चीतिम्) संवरण-संरक्षण स्वास्थ्य अनुकूलता को (अविदन्) जानते-प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार॒ स निष्क॑रत् स ए॒व सुभि॑षक्तमः ।
स ए॒व तुभ्यं॑ भेष॒जानि॑ कृणवद् भि॒षजा॒ शुचिः॑ ॥ ५ ॥

(यः) जो (चकार) तेरे शरीर का निर्माण करता है (सः) वह (निष्करत्) शुद्ध स्वास्थ्य करता है, क्योंकि (सः-एव) वह ही (सुभिषक्तमः) श्रेष्ठ चिकित्सक है (सः-एव) वह ही (तुभ्यम्) तेरे लिये (शुचिः) शोधक-परमात्मा है (भिषजा) अन्य चिकित्सक के द्वारा (भेषजानि) ओषधियां-ओषधोपचार कराता है ॥

इस सूक्त में सन्धिवात मस्तिष्कवात (अपस्मार) जैसे रोगी की चिकित्सा 'दशवृक्ष' अर्थात् दशमूल से करने का विधान है। जो बिल्व, अग्नि-मन्थ, श्योनाक, काश्मरी, पाटला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेली, छोटी कटेली, गोखरू, ये दश ओषधियां दशमूल हैं। यह गण वातनाशक है "प्राय स्त्रिदोषनाशनं पक्वामयेषुश्लेष्मोल्वणेषु च गदेषु भिषग्भिरुक्तम्" [धन्वन्तरि निघ०] दशमूल का क्वाथ वातकुण्डलीक, अष्ठीला और वातवस्ति को नष्ट करता है "दशमूलक्वाथं पीत्वा सशिला जतुशर्करम्। वातकुण्डालिकाष्ठीला वातवस्तौ प्रयुज्यते" [भैषज्यरत्नावली] दशमूल को वेद ने अपस्मारनाशक बतलाया है, इसी प्रकार आयुर्वेदिकशास्त्र में भी इसे अपस्मारनाशक कहा है "द्वे पञ्चमूले त्रिफला-अपस्मारे तथोन्मादे [चरक अपस्मार चि० अ० १०] ॥ ५ ॥

दशम सूक्त

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयः । (मानस पाप पृथिवी आदि)

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥

(त्वा) हे रोगी ! तुझे (क्षेत्रियात्) माता-पितृरूप क्षेत्र जन्मगत रोग से (निर्ऋत्याः) स्वयंकृत पाप-मानस पाप मे-अपस्मार उन्माद रोग से[1] (जामिशमात्) सम्बन्धी के द्वारा निन्दावचन या फट्कार अपशब्द कथन से-शोक से (द्रुहः) द्रोह करने वाले के विघ्नबाधारूपभयसे (वरुणस्य पाशात्) पूर्वजन्म से (मुञ्चामि) छुडाता हूँ (त्वा) तुझे (ब्रह्मणा) मन्त्र परमात्मोपदेश से (अनागसं कृणोमि) पापरहित करता हूँ (ते) तेरे लिये (उभे द्यावापृथिवी-शिवे स्ताम्) दोनों द्युलोक पृथिवी लोक कल्याणकारी हों-होंगे ॥ १ ॥

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥२॥

(ते) हे रोगी ! तेरे लिये (अद्भिः-अग्निः-अस्तु) जलों के साथ अग्नि रोग का शमनकारक हो वाष्पद्वारा (ओषधीभिः सह सोमःशम्) ओषधियों के साथ सोम ओषधिभी तेरे क्षेत्रियादि रोग का शमन कारक हो ॥२॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो

---

१ "पाप्मा वै निर्ऋतिः" [श० ७ । २ । १ । १]

मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥३॥

(ते) हे रोगी ! तेरे लिये (वातः-अन्तरिक्षे) वायु अन्तरिक्ष में वर्तमान (वयः-धात्) प्राण को[1] धरे-धारण कराके (चतस्रः प्रदिशः-ते शं भवन्तु) चारों दिशाएं तेरे लिये कल्याणकारी हो, शेष पूर्ववत् । वायु और दिशाओं में खुला विचरण करना हितकर है ॥ ३ ॥

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥४॥

(याः-इमाः-वातपत्नीः-देवीः-चतस्रः-प्रदिशः) जो ये वायु की पत्नियां, वायु संचार की सङ्गिनी पत्नियां चारों दिशाएं (सूर्यः-अभि-विचष्टे) जिनको सूर्य प्रकाशित करता है, सूर्य सहित इनसे तुझे मैं क्षेत्रिय आदि रोग से छुड़ाता हूँ । सूर्य के ताप में वायु सेवन से रोग शान्त होता है ॥ ४ ॥

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥५॥

(तासु-अन्तः) उन वात एवं सूर्य प्रकाशयुक्त चारों दिशाओं में (त्वा) हे रोगी ! तुझे (जरसि) जरा-वृद्धावस्था के जीवन निमित्त (आदधामि) पहुंचाता हूँ (यक्ष्मः-निर्ऋतिः-पराचैः-प्र-एतु) तेरा यक्ष्म-राज-

१ "प्राणो वै वयः" [ऐ० १ । २८]

यक्ष्मा तथा पापरोग-मानसरोग पराङ्मुख भावों के साथ दूर हो जावे, आगे पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥६॥

(यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा से (दुरितात्) दुरित कुष्ठ से (अवद्यात्) निन्दनीय-नीचे के रोग से (द्रुहः) द्रोह-वैर-क्रोध से उत्पन्न रोग से (पाशात्) शरीर के बन्धन न हिल सकने से (अमुक्थाः) तू छूट गया-जाता है (ग्राह्याः) मानसिक अपस्मार रोग से (च) भी (उदमुक्थाः) छूट जाता है, आगे पूर्ववत् ॥ ६ ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥७॥

(अरातिम्-अहाः) हे रोगी ! तू शरीर के शोषण रोग को त्याग दिया-त्याग देता है (स्योनम्-अविदः) सुख स्वास्थ्य को पालिया-पालेता है (अपि) अपितु-और भी (सुकृतस्य भद्रे-लोके-अभूः) पुण्य के कल्याण कारी लोक मानव जीवन के अन्दर हो गया-हो जाता है आगे पूर्ववत् ॥ ७ ॥

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥८॥

(देवाः) विद्वानों ने (ऋतं सूर्यम्) अमृत[1] आत्मा को[2] (तमसः) अज्ञानान्धकार, मानसरोग-मूर्छा से तथा (ग्राह्याः-अधि) अपस्मार के अन्दर से (मुञ्चन्तः) छुड़ाते हुए (एनसः-निः-असृजन्) पापरोग से निकाललिया करते हैं, आगे पूर्ववत् ॥ ८ ॥

एकादश सूक्त

ऋषिः—शुक्रः (शोधक-प्रतीकारकर्त्ता)

देवता—मन्त्रोक्ता (मन्त्रों में कहे प्रतिसर-प्रतीकार कर्ता अस्त्र साधन)

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥

(दूष्याः-दूषिःअसि) हे प्रतिसर-प्रतीवर्त ![3] शत्रु के प्रहार को प्रति निवृत्त करने वाले अस्त्रविशेष से युक्त राजन् ! तू किन्ही दूषित-विष खनिज वस्तुओं से बने अस्त्रप्रयोग दूषित करने वाला है (हेत्याः-हेतिः-असि) हनन साधन[4] अस्त्र का घातक-नष्ट करने का साधन है (मेन्याः-मेनिः-असि) हिंसक साधन का हिंसक है[5] (श्रेयांसम्-आप्नुहि) तू श्रेष्ठ परमात्मा को प्राप्त कर (समम्-अतिक्राम) समान के आगे बढ़ ॥ १ ॥

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ २ ॥

---

१ "ऋतममृतमित्याह" [जै० २ । १६०]

२ "सूर्य आत्मा" [तै० सं० १ । ४ । ४३ । १]

३ द्वितीये मन्त्रे

४ "हेतिः-वज्रनाम" [निघ० २ । २०]

५ "मेनिः-वज्रनाम" [निघ० २ । २०]

(स्रक्त्यः-असि) समस्त दिशाओं में पहुंचने वाला है[1] (प्रतिसरः-असि) शत्रु के अस्त्रप्रयोग को लौटा देने वाला है-प्रत्याक्रमण में समर्थ है (प्रत्यभि-चरणः-असि) प्रतिरोध करने वाला है पूर्ववत् ॥ २ ॥

प्रति तमभि चर् योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥

(यः-अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो अत्याचारी हमारे प्रतिद्वेष करता है तथा हम जिस अत्याचारी से द्वेष करते हैं (तं प्रति-अभिचर) उस पर आक्रमण कर प्रहार कर (श्रेयांसम्-आप्नुहि) श्रेष्ठ को प्राप्त हो (समम्-अतिक्राम) समान के आगे बढ़ ।। ३ ।।

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥

(सूरिः-असि) तू मेधावी[2]-आस्तिक स्तुतिकर्त्ता है (वर्चः-धा-असि) वर्च तेज को धारण करने वाला तेजस्वी है (तनूपानः-असि) तू आत्माओं का[3] रक्षक है, शेषपूर्ववत् ।। ४ ।।

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

(शुक्रः-असि) तू शोधक है (भ्राजोऽसि) तू ज्वलन्त है (स्वः-असि) तू तापक है (ज्योतिः-असि) तू विद्युत् है-विद्युत् के समान है, आगे पूर्ववत् ।। ५ ।।

---

१ "दिशः स्रक्त्यः" [श० १४ । ३ । १ । १७]
"दिशोह्यस्य स्रक्त्यः" [छान्दो० ३ । १५ । १]
२ "सूरिः-मेधावी" [निघ०]
३ "आत्मा वै तनूः [श० ६ । ७ । २ । ६]

द्वादश सूक्त

ऋषिः—भरद्वाजः (बल अन्न का धारक जन)

देवता—१. द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च (द्युलोक-पृथिवी लोक, और अन्तरिक्ष)
२. देवाः (विद्वान्)
३. इन्द्रः (शक्ति शाली परमात्मा)
४ आदित्यवस्वङ्गिरसः पितरः (अड़तालीस चोवीस चवालीस वर्ष वाले ब्रह्मचारी)
५. सोम्यासः पितरः (रसरक्तादि सम्पादक पोषक प्राण)
६. मरुतः (ऋत्विक् जन)
७. यमसादनम्, (काल-मृत्युपद)
८. अग्निः (भौतिक अग्नि)

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक पृथिवी लोक (उरु-अन्तरिक्षम्) खुला अन्तरिक्ष लोक मय-ब्रह्माण्ड (क्षेत्रस्य) उस निर्माता विष्णु महाव्यापक क्षेत्र-निवासरूप परमात्मा के व्याप्य है[1] (पत्नी) इस लोक क्षेत्र ब्रह्माण्ड की पत्नी पालिका शक्ति अपने में रखने वाली प्रकृति हे, तथा (अद्भुतः-उरुगाय) बहुत गाने-स्तुति करने योग्य अद्भुत् स्वरूप-अद्भुत्गुण कर्मयुक्त परमात्मा पति-पालक है यह जानना चाहिए (उत) अपि और लोकत्रय के अन्दर (उरु वातगोपम्-अन्तरिक्षम्) पिण्ड-शरीर मे बड़ा आकाश हृदय वायु प्राण से गोपनीय रक्षणीय है (ते) वे ब्रह्माण्ड के अवयव अङ्ग (इह) इस शरीर में (मयि तप्यमाने) मेरे तप्त पक्व अङ्गों में आते हुए पर (तप्यन्ताम्) तप्त हो अङ्गों में आवें पूरण करें भरे ब्रह्माण्डवत् पिण्ड में स्थान है ॥ १ ॥

---

१ "क्षि निवासगत्योः" [तुदा०]

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥२॥

(ये यज्ञियाः-देवाः-स्थ) जो तुम हे सङ्गमनीय विद्वानों हो (इदं शृणुतः) यह सुनो-स्वीकार करो (भरद्वाज-मह्यम्-उक्थानि शंसति) अमृत अन्न को धारण करने वाला परमात्मा मेरे लिये प्रशंसनीय आचरणों भोगों का जो शंसन उपदेश विधान करता है (यः-अस्माकम्-इदं मनः-हिनस्ति) जो हमारे मन को हिंसित करता है (सः) वह (दुरिते पाशे बद्धः-नियुज्यंताम्) बुरे बन्धन में बन्धा पड़ा रहै ॥ २ ॥

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥

(सोमप-इन्द्र) हे उपासना रस के पान करने वाले परमात्मन् ! (शोचता हृदा त्वा जोहवीमि) पवित्र आत्मभाव से तुझे पुनः पुनः अर्चित करता हूँ[1] प्रतिदिन तेरी अर्चना स्तुति मैं करता हूँ (यत्) यतः-इसहेतु-इसलिये कि (यः-अस्माकम्-इदं-मनः-हिनस्ति) जो कामादि दोष हमारे इस मन को मारता-दूषित करता है (तं कुलिशेन इव वृश्चामि) इस कामादि दोष को कुठार[2] से वृक्ष काटने की भांति मैं उसका छेदन करदूं, बस इस कार्य में मेरे आप सहायक बने, मुझ मे आत्मबल दे इस मेरी बात को (शृणुहि) सुन-स्वीकार करे ॥ ३ ॥

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

---

१ "ह्वयति-अर्चति कर्मा" [निघ० ३ । १४]

२ "कुलिहस्तः-कुलौ हस्ते सन् श्यति तनूकरोति येन सः कुलिशः "कुलि शो डः" कुलिशः ।

(अशीतिभिः-तिसृभिः) तीन छन्दों-गायत्री, उष्णिक, बृहती छन्दों वाली अस्सी ऋचाओं से (सामगेभिः) स्तुतिगान-परमात्मगुण गान करने वाले (आदित्येभिः) अड़तालीसवर्षवाले ब्रह्मचारियों द्वारा (वसुभिः) चौबीसवर्षवाले ब्रह्मचारियों द्वारा (अङ्गिरोभिः) चवालीसवर्षवाले ब्रह्मचारियों द्वारा किये जाने के समान (नः) हमारा (इष्टापूर्त्तम्) यज्ञ और लोक हित पालनकर्म को (अवत) रक्षा करे हमारे अन्दर के कामादि दोष के प्रहार से बचावे (दैव्येनहरसा) अग्नि के तेज से (पितृणाम्-अमुम्-आ-ददे) रश्मियों के उस लोक सूर्य को समन्तरूप से देता हूँ-सोपता हूँ-पहुंचाता हूँ, अग्निहोत्र की भांति काम आदि दोष को भी त्यागता हूँ ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
आङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

(द्यावापृथिवी) हे द्युलोक-सूर्य तथा पृथिवी ! (मा-अनु) मेरे अनुकूल (दीधीथाम्) मेरे शरीर को प्रकाशित करें उस में तेज पुष्टि रूप में आवें (विश्वे देवासः) हे सभी अग्नि आदि देवो ! शीर्षण्य प्राणो ![1] (मा-अनु) मेरे अनुकूल (रभध्वम्) प्रवृत्त रहो-व्यवहार करो (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) अङ्गों के रसरक्तादि तथा रसरक्तादिसम्पादक प्राण-अपान आदि पांच प्राणो ! (अपकामस्य कर्त्ता पापम्-आ-ऋच्छतु) अनभीष्ट-अहित करने वाला पाप-विनाश को प्राप्त हो ॥ ५ ॥

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥

(यः) जो (अति-इव-मन्यते) अत्यन्त अपने को मानता है अर्थात् अन्यथा अनादर करता है, तथा (वा-यः-नः क्रियमाणं ब्रह्म निन्दिषत्) और

१ "प्राणाः वै विश्वे सह देवासः [मै० १ । ५ । ११]

जो हमारे क्रिया जाने वाले कार्य-स्तुति-स्तवन की निन्दाकरता है-उसमें विघ्न करता है (मरुतः) हे विद्वान् ऋत्विजों[1] (तस्मै) उसके लिये (वृजनानि सन्तु) प्राणों से वर्जन करने वाले तापक शस्त्र हों (ब्रह्मद्विषं-द्यौः-तपंषि अभिसंतपाति) ज्ञान स्तवन का द्वेष करने वाले को सूर्य समान तापकराजा सब प्रकार से सन्तप्त करे ॥ ६ ॥

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

(ते) सप्त प्राणान्) हे ब्रह्मद्वेषी तेरे शिर के सात प्राणों-दो कान दो आंखे दो नासिकाछिद्र मुख को[2] (अष्टौ मन्यः-तान्) आठ 'धमन्यः' धमनियों[3] को उन सब को (ब्रह्मणा वृश्चामि) ब्रह्मास्त्र से काटता हूँ (अग्निदूतः-अरङ्कृतः-यमस्य सादनम्-अया) अग्नि से प्रेरित अलङ्कृत शान्त हुआ काल के सद्म-मरण पद को प्राप्त हो ॥ ७ ॥

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि ।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

(ते पदं समिद्धे जातवेदसि) हे ब्रह्मद्वेष्टा ! तेरे स्वरूप को प्रज्वालित अग्नि में (आ दधामि) आधान करता हूँ-सोंपता हूँ (अग्निः-शरीरं वेवेष्टु) अग्नि तेरे शरीर में प्रविष्ट हो जावे (असुं वाक्-अपि गच्छतु) प्राणो को-प्राण में वाणी लीन हो जावे ॥ ८ ॥

त्रयोदश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला)

देवता—१ अग्निः (परमात्मा, आचार्य, अग्निः) २, ३ बृहस्पतिः (वेदाचार्य) ४, ५ विश्वे देवाः सब (विद्वान् या प्राण)

---

१ "मरुत् ऋत्विङ् नाम [निघ० ३ । १८]

२ "सप्त शीर्षण्याः प्राणाः" [ऐ० १ । २ । ३ । ३]

३ "मकारलोपश्छान्दसः ।

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥

(अग्ने) हे ज्ञान प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! आचार्य ![1] यज्ञाग्नि ! (आयुर्दाः) तू आयु का दाता बनकर (जरसं वृणानः) जरावस्था पर्यन्त जीवन देने वाला (चारु घृतं मधु पीत्वा) सुन्दर मधुर शान्त स्तुति वाणीरूप तेज को पीकर अपने मे समाकर (घृत-प्रतीकः-घृतपृष्ठः) तेज से प्रकाशमान तेज का स्पर्श कराने वाला हुआ (इमम्) इस नव ब्रह्मचारी को (अग्ने पिता-इव पुत्रान् रक्षतात्) पिता जैसे पुत्रों की रक्षा करता है ऐसे रक्षा कर ॥ १ ॥

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥

(नः) हमारे (इमम्) इस बालक ब्रह्मचारी को (परिधत्त) विद्वानों ! अपने आश्रय में रखो (वर्चसे धत्त) अपने ज्ञानमय तेज को धारण करो (जरामृत्युं दीर्घम्-आयुः कृणुत) जरा से मृत्यु वाला-न कि मध्य में जरा से पूर्व मरने वाला अकाल मृत्यु रहित करो (बृहस्पतिः-एतत्-वासः प्रायच्छत्) आप में जो वेदवाणी का स्वामी आचार्य इस ब्रह्मचर्य वस्त्र-वेश को प्रदान करे (सोमाय राज्ञे परि धातवै-उ) सोम-उत्पादक राजमान परमात्मा के लिये उसकी शरण में सुरक्षित रहने के लिये आश्रय बनाओ ॥ २ ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥

(इदं वासः) हे ब्रह्मचारिन् इस वस्त्र को (स्वस्तये परि-अधिथाः) कल्याण के लिये परिधान कर-पहिन (गृष्टीनाम्-अभिशस्तिपाः-उ-अभूः)

---

१ "अग्निराचार्यस्तव

मनुष्यो-प्रजाओ की विनाशकप्रवृत्तियो से रक्षा करने वाला अवश्य हो (पुरूची शतं च शरदः-जीव) स्वयं बहुतेरे सौ वर्ष तक जीवित रह (रायः पोषं च-उपसंव्ययस्व) धन के ऐश्वर्य के पोष-आनन्द लाभ धारण कर ॥ ३ ॥

एह्यश्मा॑न॒मा ति॒ष्ठाश्मा॑ भवतु ते त॒नूः ।

कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ४ ॥

(अश्मानम्-एहि) हे बालक ! तू पत्थर पर आ ठहर पत्थर समान कार्य में लग (ते तनूः-अश्मा भवतु) तेरी देह पत्थर हो जावे (विश्वे देवाः) सारे विद्वान् या प्राण (ते-आयुः) तेरी आयु को (शत शरदः कृण्वन्तु) सौ वर्ष की करें ॥ ४ ॥

यस्य॑ ते॒ वासः॑ प्रथमवा॒स्यं१॒ हरा॑मस्तं त्वा॒ विश्वे॑ऽवन्तु दे॒वाः ।

तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मान॒मनु॒ जाय॑न्तां ब॒ह्वः॒ सु॒जात॑म् ॥५॥

(यस्य ते) जिस तुझ ब्रह्मचारी के (ते प्रथमवास्यम्) जिस तेरे प्रमुख धारण करने योग्य वस्त्र को (हराम) हम लाते हैं (तं त्वा विश्वेदेवाः-अवन्तु) उससे तुझे विद्वान् सब सुरक्षित रखें (तं त्वा वर्धमानम्-सुजातम्-अनु) उस तुझ को अच्छे वर्धन करने वाले सुप्रसिद्ध हुए के अनुसार (सुवृधा बहवः भ्रातरः-जायन्ताम्) सुवर्धक बहुत भाई उत्पन्न हों-होते हैं ॥ ५ ॥

चतुर्दश सूक्त

ऋषिः—चातनः (दोषनाशक)

देवता—अग्निभूतपतीन्द्राः मन्त्रोक्ताः ।

निः॒सा॒लां धृ॒ष्णुं धि॒षण॑मेकवा॒द्यां जि॑घ॒त्स्व॑म् ।

सर्वा॑श्चण्ड॑स्य न॒प्त्यो॑ ना॒शया॑मः स॒दान्वाः॑ ॥ १ ॥

(निःसालाम्) निरन्तर गतिशील[1] अस्थिरता (धृष्णुम्) धर्षणप्रवृत्ति डराने वाली धमकी (धिषणम्) डांट डपटनी (एकवाद्याम्) एक बात की रट-हठवाली (जिघत्स्वम्) मारने की इच्छा (सदान्वा,) सदाचिल्लाने वाली-इन सब (चण्डस्य सर्वाः नप्त्यः) क्रोधी, क्रोध के अन्दर से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों को (नाशयामः) हम नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात ।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

(मगुन्द्याः-दुहितरः) हे मन की क्रीडा[2] कामवासना की पुत्रियों या दुहने वाली बटाने वाली अन्यथा क्रीडा प्रवृत्तियो ! (वः) तुम्हें (गोष्ठात्-अक्षात् निरजामसि) इन्द्रियस्थानों से निकालते हैं स्वप्न मे भी नहीं आने देते हैं[3] (उपानसात्-निः) उपयुक्त जीवन साधन खानपान से परे निकालते हैं काम वासना दूरकरने वाले खानपान के सेवन से[4] (वः-गृहेभ्यः-निः०) अपने घरों से घर की शोभा अन्यथा वासमा प्रवर्तक भूषा पदार्थों से निकालते है । पुनः (चातयामसि) मर्वथा नष्ट करते हैं[5] ॥ २ ॥

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

---

१ "षल गतौ [भ्वादि०]

२ मन्यते येन तत्मनः-मः+मन्-डः 'मनोविनोदिन्यः' 'गुद क्रीडायाम्' [भ्वादि] नुम् छान्दसः ।

३ "अक्षः स्वप्नः" [मै० ३ । ६ । ३]

४ "अनः-अनितेः-जीवनकर्माः" [निरु० ११ । ४७]

५ "चातयति नाशने" [निरु० ६ । १०]

(असौ यः-अधरात्-गृहः) वह जो अधम नीच परिवार धर्मकर्म हीन है (तत्र) वहाँ (अराय्यः) अधनताऐं, निर्धनताऐं तथा कृपणताऐं[1] (सन्तु) हों-रहें (तत्र) वहाँ (सेदिः-न्युच्यतु) अवसाद-दीनता नियत समवेत हो-चिपटी रहे[2] (सर्वाः-च यातुधान्यः) और सारी यातना देने वाली-पीड़ा देने वाली वृतियां रहें ॥ ३ ॥

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥

(सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, हाय हाय करने वाली प्रवृत्तियों या जातियों को (भूतपतिः-च-इन्द्रः) गृहपति-गृहस्थ[3] तथा राजा (इतः-निरजत) इस अपने घर से तथा राष्ट्र से निकाल दे (गृहस्य बुध्ने-आसीनाः-ताः-इन्द्रः-वज्रेण-अधितिष्ठतु) घर के परिवार के मूल में स्वभाव में रहने वालियों उन सबको राजा दण्ड से स्वाधिकार मे ले ॥ ४ ॥

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ५ ॥

(सदान्वाः) हे सदा चिलाने रुलाने वाली प्रवृत्तियो ! तुम (यदि क्षेत्रियाणां स्थ) यदि जन्म के दोषों की-मातापिता सम्बन्धी दोषों की रोगों की हो (वा यदि पुरुषेषिताः) और यदि अन्य पुरुषों से आई हुई संसर्ग वाली हो (यदि-दस्युभ्यः-जाताः-स्थ) यदि तुम उपक्षयकारी बिरोधी जनों से

---

१ "रा दाने" [तुदादि०] ततो धञ्-रायः-धनं मतुपि ईः-छान्दसः "छन्दसी-वनिपौ...." [अष्टा० ५ । २ । १०९] वार्त्तिकम् ।

२ "षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु" [भ्वादि] ततः किः प्रत्ययः । एत्वाभ्यासलोपौ "किनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्" [अष्टा० ३ । २ । १७१] वार्त्तिकम् ।

३ "भूतानां पतिर्गृहपतिः" [श० ६ । १ । ३ । ७]

उत्पन्न हुई-विषकृत हो (इत:-नश्यत) यहाँ से नष्ट हो जाओ-दूर हो जाओ ॥ ५ ॥

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरम् ।
अजैषं सर्वानाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

(आशु:-गाष्ठाम्-इव) घोड़ा जैसे अपनी गमनस्थली को परिप्राप्त हो जाता है ऐसे (आसां धामानि परि-असरम्) मैं इनके स्थानों-मूल कारणों को परिप्राप्त करता हूँ-पहुंच जाता हूँ (सदान्वा:) चिल्लाने वाली प्रवृत्तियो ! (व: सर्वान्-आजीन् अजैषम्) तुम्हारे सारे आक्रमण स्थलों को मैंने जीत लिया स्वाधीन कर लिया,-जीत लेता-स्वाधीन कर लेता हूँ, अत: (इत:-नश्यत) यहाँ से नष्ट हो जाओ-दूर हो जाओ ॥ ६ ॥

पञ्चदश सूक्त

ऋषि:—ब्रह्मा (ब्रह्माण्डवेत्ता)

देवता—प्राण: (प्राण)

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

(यथा द्यौ:-च पृथिवी च) जैसे द्युलोक पृथिवी लोक (न बिभीत:-न रिष्यत:) न भय करते है अत: हिंसित नष्ट नहीं होते हैं या किसी को पीडित नहीं करते है अत: भय नहीं करते हैं (एवा मे प्राण मा बिभे:) ऐसे ही मेरे प्राण जीवन तत्त्व तू भी भय न कर हिंसित न होगा अथवा तू हिंसित नहीं करता है किन्तु जीवन देता है अत: भय नहीं कर ॥ १ ॥

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

(यथा-अहः-च रात्री च) जैसे दिन और रात्रि (न विभीतः-न रिष्यतः) नहीं डरते हैं अतः हिंसित नहीं होते हैं अथवा हिंसित नहीं करते है अतः भय नहीं करते हैं (एवा मे···) पूर्ववत् ॥ २ ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

(यथा सूर्यः-च चन्द्रः-च) जैसे सूर्य और चन्द्र भी (न बिभीतः-न रिष्यतः) भय नहीं करते हैं अतः हिंसित नही होते हैं अथवा हिंसित नहीं करते हैं अतः भय नहीं करते हैं (एवा मे······) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

(यथा ब्रह्म च क्षत्रं च) जैसे ब्रह्मज्ञान और क्षात्रबल भी (न बिभीतः-न रिष्यतः) न भय करते न हिंसित होते हैं अथवा न हिंसित करते हैं अतः भय नहीं करते हैं (एवा मे प्राण ······) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥

(यथा सत्यं च-अनृतं च) जैसे सत्य और अनृत भी (न बिभीतः-न रिष्यतः) न भय करते हैं न हिंसित होते हैं अथवा हिंसित नहीं करते हैं अतः भय नहीं करते हैं अतः भ्रम नहीं करते हैं (एवा मे प्राण ······) पूर्ववत् ॥५॥

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

(यथा भूतं च भव्यं च) जैसे भूत-गत काल और भविष्यत्काल भी (न बिभीतः-न रिष्यतः) न भय करते हैं न हिंसित होते हैं अथवा न हिंसित करते हैं अतः न भय करते हैं (एवा मे प्राण मा बिभेः) पूर्ववत् ॥ ६ ॥

षोडश १६ वां सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (ब्रह्माण्डज्ञाता)

देवता—१ प्राणापानौ (श्वास प्रश्वास) २ द्यावापृथिवी (द्युलोक प्रतिरोध ३ सूर्यः (सूर्य) ४ अग्निः (जाठर अग्नि) ५ विश्वम्भरः (विश्व का भरण पोषण करने वाला ईश्वर)

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

(प्राणापानौ) हे श्वास प्रश्वास ! तुम (मृत्योः-मा पातम्) मृत्यु-अकाल मृत्यु से मेरी रक्षा करो यह सुवचन है ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

(द्यावापृथिवी) हे द्युलोक पृथिवी लोक ! तुम (उपश्रुत्या मा पात स्वाहा) उपयुक्त श्रवण से मेरी रक्षा करो, यह आन्तरिक कथन है ॥ २ ॥

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

(सूर्य) हे सूर्य ! तू (चक्षुषा) नेत्र दृष्टि से (मा पातं स्वाहा) मेरी रक्षा कर, अच्छा कथन है ॥ ३ ॥

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

(अग्ने वैश्वानर) हे विश्व का भरण पोषण करने वाले जाठर अग्नि ! तू (विश्वैः-मा पाहि स्वाहा) सब इन्द्रियों से मेरी रक्षा कर, यह अच्छा कथन है ॥ ४ ॥

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

(विश्वम्भर) हे सब संसार के भरण पोषण करने वाले परमात्मन् ! (तू विश्वेन भरसा) सारे भरण पोषण प्रकार से (मा पाहि स्वाहा) मेरी रक्षा कर यह अच्छा कथन है ॥ ५ ॥

सप्तदश १७ वां सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (ब्रह्मज्ञानी)

देवता—ओजः प्रभृतीनि (मन्त्र पठित ओज आदि)

ओजो॑ऽस्योजो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ १ ॥

सहो॑ऽसि सहो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ २ ॥

बल॑मसि बलं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

आयु॑रस्यायु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

श्रोत्र॑मसि श्रोत्रं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

चक्षु॑रसि चक्षु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

परिपाण॑मसि परिपाणं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

(ओजः-असि-ओजः-मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू ओजोरूप-ज्ञान बलरूप हैं मेरे लिये ज्ञान बल दे यह अच्छी प्रार्थना है ॥ १ ॥

(सहः-असि सहः-मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू साहसपूर्ण है मेरे लिये साहस दे, अच्छी प्रार्थना है ॥ २ ॥

(बलम्-असि बलं मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू बलस्वरूप है मेरे लिये बलदे, अच्छी प्रार्थना है ॥ ३ ॥

(आयुः-असि-आयुः-मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू जीवनस्वरूप है, जीवन मेरे लिये दे यह अच्छी प्रार्थना है ॥ ४ ॥

(श्रोत्रम्-असि-श्रोत्रं मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू श्रवणशक्ति है, श्रवण शक्ति मेरे लिये दे, अच्छी प्रार्थना है ॥ ५ ॥

(चक्षुः-असि चक्षुः-मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू दर्शनशक्तिरूप है, दर्शनशक्ति मेरे लिये दे, अच्छी प्रार्थना है ॥ ६ ॥

(परिपाणम्-असि परिपाणं मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू परिपालन समर्थ है, परिपालन मेरे लिये दे अच्छी प्रार्थना है ॥ ७ ॥

अष्टादश १८ वां सूक्त

ऋषिः—चातनः (रोग भयनाशक विद्वान्)

देवताः—अग्निः (परमात्मा या राष्ट्र नाशक राजा)

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

(भ्रातृव्यक्षयणम्-असि) हे परमात्मन् या अपने राष्ट्र नायक राजन् ! तेरे में ईर्ष्यारूप विरोधी भाव या ईर्ष्यालु जन का नाशक बल है (भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा) मेरे लिये ईर्ष्यालुभाव या ईर्ष्यालु जन का नाशक बल दे, यह अच्छा कथन है ॥ १ ॥

(सपत्नक्षयणम्-असि) तेरे में अन्य जनों में रहने वाले द्वेषभाव या द्वेषी जन का नाशक बल है (मे सपत्नचातनं दाः स्वाहा) मेरे लिये द्वेष भाव या द्वेषी को नष्ट करने का बल दे, यह अच्छी प्रार्थना है ॥ २ ॥

(अरायक्षयणम्-असि) तेरे में न देने अपितु छीन लेने कार्पण्य-चौर्यभाव या कृपण चोर को नष्ट करने का बल है (मे-अरायचातनं दाः स्वाहा) मेरे लिये कृपण भाव स्तेय या कृपण-चोर के नष्ट करने का बलदे ॥ ३ ॥

(पिशाचक्षयणम्-असि) तेरे में मांस खाने वाले शोक या शोक देने वाले को नष्ट करने का बल है (मे पिशाचचातनं दा: स्वाहा) मेरे लिये मांस खाने वाले शोक या शोक देने वाले जन को नष्ट करने का बल दे, यह अच्छी प्रार्थना है ॥ ४ ॥

(सदान्वाक्षयणम्-असि) हे परमात्मन् तेरे अन्दर या राजन् तेरे में सदारुलाने वाले भय या भयप्रद के नष्ट करने का बल है (मे सदान्वाचातनं दा: स्वाहा) मेरे लिये सदारुलाने वाले भय या भय प्रद जन को नष्ट करने का बल दे यही अच्छो प्रार्थना है ॥ ५ ॥

एकोनविंश १९ वें सूक्त से त्रयोविंश २३ वें सूक्त तक

देवता:—अथर्वा (स्थिर-योगीजन)

ऋषि:—१९ अग्नि:, २० वायु:, २१ सूर्य:, २२ चन्द्र:, २३ आप: ॥

१९

अग्ने यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्म. ॥१॥

" " " हरस्तेन " " हर " " " " " ॥२॥

" " " तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च " " " " " ॥३॥

" " " शोचिस्तेन " प्रति शोच " " " " " ॥४॥

" " " तेजस्तेन तमतेजसं कृणु " " " " " ॥५॥

२०

वायो यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

" " " हरस्तेन " " हर " " " " " ॥२॥

" " तेऽर्चिस्तेन " प्रत्यर्च " " " " " ॥३॥

" " ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच " " " " " ॥४॥

" " ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु " " " " " ॥५॥

२१

सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥
" " " हरस्तेन " " हर " " " " " ॥२॥
" " तेऽर्चिस्तेन " प्रत्यर्च " " " " " ॥३॥
" " ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच " " " " " ॥४॥
" " ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु " " " " " ॥५॥

२२

चन्द्र यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥
" " " हरस्तेन " " हर " " " " " ॥२॥
" " तेऽर्चिस्तेन " प्रत्यर्च " " " " " ॥३॥
" " ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच " " " " " ॥४॥
" " ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु " " " " " ॥५॥

२३

आपो यद् वस्तपस्तेन तं प्रति तपत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥
" " वो हरस्तेन " " हरत " " " " " ॥२॥
" " "ऽर्चिस्तेन " प्रत्यर्चत " " " " " ॥३॥
" " वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत " " " " " ॥४॥
" " वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत " " " " " ॥५॥

वक्तव्य—इन पांच सूक्तों के पृथक्-पृथक् देवता हैं क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आपः-जल। प्रत्येक देवता के गुण 'तपः, हरः, अर्चि, शोचिः, तेजः' कहे गये हैं। यास्कीयनिघण्टु में "अर्चिः, शोचिः, तपः, तेजः, हरः-ज्वलतो नामधेयानि" [निघ० १ । १७] एक ही ज्वलन अर्थ में दिये हैं, ये

अग्नि सूर्य में तो घट सकते हैं वायु, चन्द्र, आपः-जल में नहीं, अग्नि, सूर्य में भी एकार्थ का फल नहीं या फलित नहीं-चरितार्थ नहीं होते हैं। उनमें भी तब भिन्न-भिन्न अर्थ मे लिये जा सकते हैं। वायु, चन्द्र, आपः-जल में इनकी स्थिति सन्दिग्ध है। पांचो सूक्तों या पांचों देवताओं मे इनकी योजना के दो प्रकार हो सकते है, जिनमें प्रथम प्रकार तो यह है कि इन पाचों सूक्तों को एक वाक्यता दी जावे, पांचों देवताओं में पांचो गुणो को एक एक में क्रमशः लिया जावे। अग्नि में तपः, वायु में हरः, सूर्य में अर्चि, चन्द्र में शोचिः, आपः-जल में तेजः। तब अर्थ इस प्रकार होंगे—

अग्ने यत् ते तपस्तेन ते प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि
य वय द्विष्मः ॥ १९ । १ ॥

हे अग्नि या अग्रणायक परमात्मन् ! जो तेरा तपः-ज्वलन या भस्मीकरण बल है उससे उसे प्रतीकार में तपा दग्धकर जो हम उपासकों से द्वेष करता है जिसे हम उपासक द्वेष करते हैं ॥ १९ । १ ॥

वायो यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥ २० । २ ॥

हे वायु या जीवनप्रद परमात्मन् ! जो तेरा हरणबल-प्रहार बल उससे उसे प्रतीकार में प्रहृत कर-आघात पहुंचा जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है, हम जिससे द्वेष करते हैं ॥ २० । २ ॥

सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥ २१ । ३ ॥

हे सूर्य या ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् तेरा जो अर्चि,-रश्मि ज्ञान तेज है उससे उस प्रतीकार में तापित कर-गरमकर या पश्चाताप दण्ड दे जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है हम उपासक जिससे द्वेष करते हैं ॥ (२१ । ३)

चन्द्र यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २२ । ४ ॥

हे चन्द्र या आह्लादक परमात्मन् ! जो तेरा पवित्र शान्त बल है उससे उसे प्रतीकार में पवित्र-शान्त कर जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ (२२ । ४)

आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २३ । ५ ॥

हे आपः-जल या व्यापक परमात्मन् जो तेरा तेज[1] ताडन बल है उससे उसे प्रतीकार में ताडित कर जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है जिससे हम उपासक द्वेष करते हैं ॥ (२३ । ५)

द्वितीय प्रकार है—

पांचो सूक्तों में दिये पांचो देवताओं के अन्दर पांच पाच गुण या बल हैं 'तपः, हरः, अर्चिः, शोचिः, तेजः' भिन्न भिन्न अभिप्राय से जो कि—

तपः—"तप ऐश्वर्ये" [दिवादि०] 'तप सन्तापे' [भ्वादि०] 'तप दाहे" [चुरादि०]

हरः—"हृ संवरणे" [भ्वादि०] "हृ प्रसह्य करणे" [जुहो०] "हृञ् हरणे" [भ्वादि०]

अर्चिः—"अर्च पूजायाम्" [भ्वादि०]

शोचिः—"शुच शोके" [भ्वादि०] "शुचिर् पूतीभावे (दिवादि०)

तेजः—"तिज निशाने" [भ्वादि०]

---

१ "अप्सु तेजः प्रातिष्ठत्" [कौ० ३ । ४ । २]

१९ वें सूक्त में—

हे अग्नि ! जो हम उपासको से द्वेष करता है हम उपासक जिससे द्वेष करते हैं तू अपने तप दाहक बल से उसे दग्ध कर, अपने हर-संवरण धर्म से अपने अन्दर ले ले, अपने अर्चि पूजा कराने वाले गुण से उससे पूजा करा, आस्तिक बना, अपने तेजः-तीक्ष्ण बल से दण्ड दे ॥ १९ ॥

२० वें सूक्त में—

हे वायु ! जो उपासकों के प्रति द्वेष करता, हम उपासक जिससे द्वेष करते हैं तू उसे अपने तपः-ऐश्वर्य से आक्रान्त कर, अपने हरः-प्रहार कर, अपने अर्चिः-पूजाकराने वाले-उससे पूजा करा, अपने तेजः तीक्ष्ण प्रगति से उस पर प्रगति कर-स्वाधीन कर ॥ २० ॥

२१ वां सूक्त—

हे सूर्य ! जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता, हम उपासक जिसमें द्वेष करते हैं तू उसे अपने तपः-सन्ताप-उग्रताप से सन्तप्त कर, अमने हरः-अपने में संवरण करने वाले धर्म से हरण कर-अपने अन्धकार की भांति, अपने अर्चिः-पूजा मान कराने वाले बल से उससे पूजा करा-आस्तिक बना, अपने शोचिः-पवित्र कराने वाले बल से उसे पवित्र बना, अपने तेजः-तीक्ष्ण रश्मिप्रकाश डालकर निस्तेज बना ॥ २१ ॥

२२ वां सूक्त—

हे चन्द्र ! जो हम उपासकों से द्वेष करता है, हम उपासक जिससे द्वेष करते हैं तू अपने तपः-शान्त ऐश्वर्य से शान्त कर, अपने हरः-संवरण धर्म से ठण्डा कर, अपने पूजनीय गुण से पूजा करा-आस्तिक बना, अपने शोकहर प्रभाव से शोक ईर्ष्या द्वेष से पृथक् कर, अपने तेजः-तीक्ष्ण ठण्ड बरसाने से निस्तेज कर ठण्डा कर ॥ २२ ॥

२३ वां सूक्त—

हे आपः-जल जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है हम जिससे द्वेष करते हैं तू उसे अपने तपः-ऐश्वर्य स्नान से-ऐश्वर्य के अधीन कर, अपने हरः-हरने वाले दोष दूरीकरण धर्म से दोषरहित कर, अपने अर्चि अर्चन साधन शान्त स्वभाव से शान्त कर-आस्तिक बना, अपने शोचिः-पवित्र करने वाले धर्म से पवित्र कर, अपने तेजः-तीक्ष्ण ठण्ड से निस्तेज कर-जकड़ डाल ॥२३॥

चतुर्विंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (मनस्वी विद्वान्)

देवता—आयुः (जीवन)

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥१॥

शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥२॥

म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥३॥

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥४॥

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६॥
अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥७॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥८॥

(शेरभ शेरभक) हे हिंसक तथा कुत्सित हिंसक जन[1] अकारण हिंसा करने वाले जन ! (वः) तुम्हारे (यातवः) यातना देने वाले साथी (पुनः-यन्तु) पीछे चले जावें-लौट जावें (हेतिः पुनः) शस्त्र पीछे चले जावें-कुण्ठित हो जावें (किमीदिनः) अब क्या क्या अनर्थ करें यह सोचने वाले भी पीछे हट जावें (यस्यस्थ) जिसके तुम हो उसे तुम खाओ-सताओ (यः-वः प्राहैत्) जो तुम्हें भेजता है (तम्-अत्त) उसे खाओ (स्वा मांसानि-अत्त) अपने मांस खाओ हमारे अन्दर घुसकर हमें मत खाओ ॥१॥

(शेवृध शेवृधक) सोने वाले पर आक्रमण और उनके पीछे चलने वाले शेष पूर्ववत् ॥ २ ॥

(म्रोकानुम्रोक) हे चौर और चौरों के पीछे चौर डाकू तुम-आगे पूर्ववत् ॥ ३ ॥

(सर्पानुसर्प) हे विषधर के समान विषप्रद अधिक विषधर की भांति आघातकारी-शेष पूर्ववत् ॥ ४ ॥

(जूर्णिः) हे ज्वरित पीड़ित करने वाले[2] शेष पूर्ववत् ॥ ५ ॥

---

१ "शॄ हिंसायाम्" [क्रयादि] ततः "कृशृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच्" [उणादि० ३ । ११२] एकारादेशश्छान्दसः ।

२ "जॄज्याज्वरिभ्यो निः" [उणादि० ४ । ४८]

(उपब्दि) हे उपवदनशील[1] अन्यथा बोलने चिल्लाने-चिल्लाकर डराने वाली ! शेष पूर्ववत् ॥ ६ ॥

(अर्जुनि) हे मयूरी ! जैसे प्रिय भाषी बहुरूपी-शेष पूर्ववत् ॥ ७ ॥

(भरूजि) हे भूजने वाले भ्रष्टाचारी ! शेष पूर्ववत् ॥ ८ ॥

पञ्चविंश सूक्त

ऋषिः—चातनः (रोगभय नाशक)

देवता—पृश्निपर्णी ।

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः ।
उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥१॥

(पृश्निपर्णी देवी) पृश्निपर्णी दिव्यगुणा ओषधि (नः) हमारे लिये (शम्-अकः) सुख-स्वास्थ्य करती है-देती है (निर्ऋत्यै) रोगरूप कृच्छ्रापत्ति के लिये (अशम्-अकः) प्रतिरोध करती है-उसका क्षेम करती है (उग्रा हि कण्वजम्भनी) वह अवश्य रक्त निमीलन, रक्तस्राव चवक रोग या पापरोग को नष्ट करने वाली है (तां सहस्वतीम्) उस रोगों का तिरस्कार करने वाली ओषधि को (अभक्षि) मैं खाता हूँ-सेवन करता हूँ ॥ १ ॥

सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत ।
तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृ॒श्चामि॒ श॒कुने॑रिव ॥२॥

(इयम्) यह (पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी ओषधि (सहमाना) रोगों को तिरस्कृत करने वाली (प्रथमा) मुख्यरूप (अजायत) उत्पन्न हुई है

---

१ उपपूर्वाद् वद् धातोः, धातो रुपधालोपश्छान्दसः ।

(तया) उसके द्वारा (अहम्) मैं (दुर्णाम्नाम्) विविध अर्शरोग-बवासीर रोग के[1] (शिरः) शिर को- (शकुनेः-इव) पक्षी के शिर की भांति (वृश्चामि) काटता हूँ[2] ॥ २ ॥

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति ।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥३॥

(अरायम्) न जीवनरस देने वाले अपितु जीवनरस लेने वाले क्षयरोग (असृक्पावानम्) रुधिर पीने वाले रोगकृमि को (च) और (यः) जो (स्फातिं जिहीर्षति) शरीरवृद्धि-पुष्टि को जो हरना चाहता है, उसे ऐसे (गर्भादम्) गर्भखाने वाले (कण्वम्) निमीलन सा करने चवक चवक करने वाले रोग या रोगजन्तु कृमिभूत रोग को (पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी ओषधि ! तू (नाशय) नष्ट कर (च) और (सहस्व) अपना स्वास्थ्य रूप प्रभाव जमा ॥ ३ ॥

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान् ।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥४॥

(पृश्निपर्णि देवी) हे पृश्निपर्णी दिव्य ओषधि ! (त्वम्) तू (एनेनान् जीवितयोपनान् कण्वान्) इन जीवित गर्भ को नष्ट करने वाले कृमिभूत रोगों को (गिरिम्-आवेशय) पर्वत पर पहुंचादे-ऊंचे उड़ादे-छिन्न भिन्न करदे-पर्वत पर जाने पर यह कृमिरोग या रोग कृमि नष्ट हो जाते हैं ऐसा भी ध्वनित होता है (तान्-अग्निः-इव दहन्) उन्हें अग्नि की भांति जलाती हुई (इहि) प्राप्त हो-उपयुक्त हो ॥ ४ ॥

---

१ "दुर्णामा अर्शरोगे [राजनिघण्टौ]
"दुर्णाम्नीः-अर्शरोगे" [श० र० वैद्यक शब्द सिन्धुकोषे]

२ "अवाक्पुष्पी बलादर्वी पृश्निपर्णी त्रिकण्टकः.........एतदर्शः स्वतिसारे रक्तस्रावे त्रिदोषघ्ने [चरके-अर्शरोग चिकित्सा प्रकरणे]

परा॑च एना॒न् प्र णु॑द॒ कण्वा॑ञ्जीवि॒तयो॑पनान् ।
तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत् क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥५॥

(एनान् जीवितयोपनान् कण्वान्) इन जीवित गर्भघातक रोगकृमियों को (पराचः-प्रणुद) दूर भगा (यत्र तमांसि गच्छन्ति) जहाँ अन्धेरे प्राप्त रहते हैं (तत्)' उस स्थान को (क्रव्यादः) उन कच्चे मांस के खाने वाले कृमियों को (अजीगमम्) मैं पहुँचाता हूँ तेरे द्वारा चिकित्सा कर भगाता हूँ ॥ ५ ॥

पृश्निपर्णी विविध अर्श आदि कृमि रोगों, गर्भक्षय कारक कृमियों को, नष्ट करने के लिये उपयोगी है, अन्यत्र कहा भी है[1] ॥

षड्विंश सूक्त

ऋषिः—सविता (ऐश्वर्यवान् पशु या सम्पत्ति मान्)

देवता—पशवः (गवादि पशु)

एह य॑न्तु प॒शवो॒ ये प॑रे॒युर्वा॒युर्येषां॑ सह॒चारं॑ जु॒जोष॑ ।
त्वष्टा॒ येषां॑ रू॒पधे॑यानि॒ वेदा॒स्मिन् तान् ।
गो॒ष्ठे स॑वि॒ता नि य॑च्छतु ॥१॥

(ये पशवः परा-इयुः) जो गवादि पशु गोशाला से परे जङ्गल में यए-आते हैं (येषां सहचारं वायुः-जुजोष) जिनके सहचरण-साहचर्य-साथ में रहन सहन को ऋषभ साण्ड[2] प्रेम से सेवन करता है वे गवादि पशु (इह-

---

१ "पृश्निपर्णी बला शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका" [योगरत्नाकर, स्त्रीगर्भ रोगचिकित्सा ३] "गोक्षुरे शिग्रुं मधुकं प्रश्निपर्णिकाम् बलायुक्तं पिबेत् पिष्ट्वा गोदुग्धैः षष्ठ मासके" [कामरत्न गर्भरक्षा १०]

२ "ऋषभोऽसिशाक्वरो वायुर्जन्मना" [काठ० १ । ११]

आयन्तु) यहाँ गोशाला में-हमारे गोस्थान में आ जावे (येषां रूपधेयानि त्वष्टा वेद) जिनके रूप:-स्वरूप विज्ञानों को कुशल गोपाल पशु विशेषज्ञ जानता है[1] (तान्-अस्मिन् गोष्ठे सविता नियच्छतु) उन्हें इस गोस्थान में पशुस्वामी सुरक्षित नियमन में रखे ॥ १ ॥

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन् ।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥२॥

(इमं गोष्ठं पशवः संस्रवन्तु) इस गोस्थान यजमान घर को गवादि दूध से संस्रवित करें-भरपूर करें[2] (बृहस्पतिः प्रजानन्-आनयन्तु) गोपालक पशुओं की वाणी का पति होता हुआ हावभाव-पुचकार करता हुआ[3] अपनी अनुकूलता में लावे (एषाम्-आजग्मुषः) इनमें आने वाले-आये हुए पशुओं को (सिनीवाली-अग्रम्-अनयतु) अन्नवाली-दाने चारे वाली-दाना चारा लिये हुए गृहपत्नी अन्नवाली घासवाली[4] सामने अपनी ओर पशुओं को लावे बुलावे (अनुमते नि यच्छ) हे अनुमतिकारी-विचारवाली या पृथिवी[5] ! अपने में नियन्त्रित करे ॥ २ ॥

सं सं स्रवन्तु समश्वाः पशवः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥३॥

(पशवः सं संस्रवन्तु) गवादिपशु हमें सम्प्राप्त हों (अश्वासः-म्) घोड़े संप्राप्त हो (पुरुषाः सम्-उ) पुत्रादि जन भी सम्प्राप्त हों (धान्यस्य

---

१ "त्वष्टा पशूनां मिथुनानां रूपकृत्" [तै० २ । ५ । ७ । ४]

२ "अन्तर्गत णिजर्थः"

३ "यासां बृहस्पतिरुवाजतेडा नाम रूपं पशा॰ संगवं धाम पश्यमानः [मै० ४ । २ । ११]

४ "सिनम्-अन्नम्" [निघ०] तद्वती "योषा वै सिनीवाली" [श० ६ । ५ । १ । १०]

५ "इयं पृथिवी वा अनुमतिः" [मै० ४ । ३ । १]

स्फातिः सम्) गेहूँ चावल आदि अन्न की वृद्धि भी सम्प्राप्त हो (संसाव्येण हविषा जुहोमि) सम्प्राप्त होने योग्य घृतादि से होम करूं ॥ ३ ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

(गवां क्षीरं संसिञ्चामि) गौओं का दूध खाद्य पात्र में डालता[1] हूँ पुनः (आज्येन बलं रसं सं०) घृत से बलकारी अन्नादि ओषधि रस गुच्छे को या सोमरस[2] को सींचता हूँ विशेष पाक बनाता हूँ (अस्माकं वीरः संसिक्ताः) हमारे प्राण[3] तृप्त हों, अतः (मयि गोपतौ गावः-ध्रुवाः) मुझ गोस्वामी के आश्रय गौएँ स्थिर सदा बनी रहे ॥ ४ ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥५॥

(गवां क्षरिम्-आहरामि) गौओं के दूध को प्राप्त किया-करता हूँ (धान्यंरसम्-आहार्षम्) अन्न रस को भी प्राप्त करता हूँ (अस्माकं वीराः-आहृता) अपने पुत्रों को प्राप्त किया करता हूँ[4] (पत्नीः-आ अस्तकम्) पालने योग्य स्त्री बहिन आदियों को तथा घर को प्राप्त किया करता हूँ ॥ ५ ॥

---

१ "षिच क्षरणे" [तुदादि०]
२ "रसः सोमः" [श० ७ । २ । १ ।३]
३ "प्राणा वै दश वीराः" [श० ९ । १ । १ । १०]
४ "पुत्रो वै वीरः" [श० ३ । १ । १ । १२]

सप्तविंश सूक्त

ऋषिः—कपिञ्जलः (कमनीय-स्वास्थ्य का, भाषणकर्त्ता, निकाय शरीर स्थान बनाने वाला चिकित्सक[1])

देवताः—१-५ ओषधिः ६. रुद्रः (अग्नि) ७ इन्द्रः (राजा)

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥१॥

(ओषधे) हे पाटा[2] ओषधि ! तू (सहमाना) संग्राम में उपयुक्त सहनशक्ति की मूर्त्ति तथा (अभिभूः) पराक्रम की स्फूर्तिप्रदा (असि) है तेरे उपयोग से (शत्रुः) शत्रु (प्राशम्) हमारे प्रकृष्ट सङ्घ-व्यूहविशेष युक्त सेना सङ्घ को[3] (न-इत्) न कदापि (जयाति) जीत सके (प्राशं प्रति प्राशः) हमारे सेना सङ्घ पर शत्रु के सेना सङ्घों को (जहि) मार (अरसान् कृणु) उन्हें रस हीन सार हीन-निर्बल करदे ॥ १ ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥२॥

(सुपर्णः) सुपर्ण-पक्षीविशेष ने (त्वा-अन्वविन्दत्) तुझे पहचाना (सूकरः) जङ्गली सुअर ने (त्वा) तुझे (नसा) अपनी थूंड से (अखनत्) खोदा, उस ऐसी ओषधि के उपयोग प्रयोग से हमारे सेना संघ पर आक्रमणकारी शस्त्रसेनासघ को नष्ट कर उन्हें निर्बल कर ॥ २ ॥

---

१ "कपिञ्जल. कमनीयं पिञ्जयति" [निरु० ३ । १८]
"पिजिभाषार्थ, निकेतने च" [चुरादि०]

२ "चतुर्थे मन्त्रे

३ "अशूङ् संघाते च" [स्वादि०]

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥३॥

(इन्द्रः-ह) इन्द्र राजा ने निश्चय (त्वा) तुझे (बाहौ) भुजा-हाथ में (चक्रे) स्वाधीन किया प्राप्त किया (असुरेभ्यः-स्तरीतवे) असुरों से बचाव के लिये[1] आगे पूर्ववत् ॥ ३ ॥

पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥४॥

(इन्द्रः) राजाने (पाटाम्) तुझ पाटा ओषधि को (व्याश्नात) विशेष रूप से खाया सेवन किया (असुरेभ्यः-स्तरीतवे) असुरों से बचाव करने को-शेषपूर्ववत् ॥ ४ ॥

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥५॥

(अहम्) मैं (तया) उस पाटा ओषधि से (शत्रून) शत्रुओं को (साक्षे) सहूँ (इन्द्रः सालावृकान्-इव) विद्युतने निजशाला कक्षा मे होने वाले जल जलरोधक मेघों को निर्बल किया-आगे पूर्ववत् ॥ ५ ॥

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥६॥

(जलाषभेषज) हे सुखकर[2] स्वास्थ्यप्रद भेषज करने वाले (नील-शिखण्ड) नीलरंगशिखावाले (कर्मकृत्) प्रतीकार कर्म करने वाले (रुद्र) हे अग्नि[3] और ओषधि तू शेष पूर्ववत् ॥ ६ ॥

---

१ "स्तृञ् आच्छादन" । स्वा० ।
२ "जलाषं सुखनाम" निघ० ३ । ६]
३ "अग्निर्वै रुद्रः" [श० ५ । ३ । १ । १०]

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥७॥

(इन्द्र) हे इन्द्र-राजन् ! (यः) जो (नः) हमें (अभिदासति) तिरस्कृत करता है नष्ट करता है (तस्य) उस शत्रु के (प्राशं जहि) सेनासङ्घ को नष्ट कर तथा (शक्तिभिः) शक्तियों के द्वारा (नः) हमें (अधि ब्रूहि) आश्वासन दे-धैर्य साहस दे (माम्) मुझे (उत्तरं प्राशि) उत्कृष्ट शत्रु की अपेक्षा से बढ़कर सेना सङ्घ वाला (कृधि) कर ॥ ७ ॥

पाठा ओषधि युद्ध में आघात-घावों को भरने वाली है, इसके स्वरस का पान-घाव पर लुगदी लगाने-लेप करने से घाव भर जाता है रसपान से थकान दूर होकर साहस प्राप्त होता है। पाठा को व्रण नाशक आयुर्वेद में कहा भी है—

"पाटोष्णा कटुकातीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः ।
हन्तिशूलज्वरच्छर्दि कुष्ठातिसारहृद्रुजः ।
दाह कण्डू विषश्वास कृमि गुल्मगरव्रणान् ॥"

(भावप्रकाश निघण्टु)

अष्टाविंश सूक्त

ऋषिः—शम्भूः (शम्-भावयिता-कल्याणकर्त्ता)

देवता—१, ३ जरिमा, आयुः, २ मित्रावरुणौ, ४, ५ द्यावापृथिव्यादयः ।

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहसः ॥१॥

(जरिमन्) हे आयु के अन्तकरते वाली वृद्धावस्था ! (अयम्) यह ब्रह्मचारी (तुभ्यम्-एव वर्धताम्) तेरे लिये तुझ जरावस्था तक पहुंचने के लिये आयु में बढ़ता आवे (इमम्) इसको (अन्ये ये शतं मृत्यवः) जरा से पूर्व और जो सैंकड़ों मृत्युए (मा-हिंसिषुः) मत मारें (मित्रः-एव) काल का प्रेरक-मापक सूर्य ही-परमात्मा ही (प्रमनाः) प्रकृष्ट मनः शक्ति देने वाला या प्रसन्न मन सा हुआ परमात्मा (माता-इव पुत्रम्-उपस्थे) माता की भांति पुत्र को अपने उपाश्रय में संरक्षण में (एनं-मित्रियात्-अंहसः पातु) इसको तुझमित्रविरोधी पाप से-आचरण से बचावे, ऐसा आचरण न कर सके जो परमात्मा के आदेश को तोड़कर अपमृत्युओं को प्राप्त करे ॥ १ ॥

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥२॥

(एनम्) इस ब्रह्मचर्य सम्पन्न संयमी जन को (मित्रः-वरुणः-वा रिशादाः) प्राण[1] और[2] अपान[3] हिंसक-स्वास्थ्यनाशक तत्वों-अंशों को बाहर फेंकने वाला क्षीण करने वाला[4] (संविदानौ) मिले हुए-परस्पर संगत हुए (जरामृत्युं कृणुताम्) जरापर मृत्यु वाला करें-बनावें (तत्) तदा फिर (होता-अग्निः) स्वीकार करने वाला आचार्य (विश्वा वयुनानि विद्वान्) सब जीवन लक्षणों को जानता हुआ (देवानां जनिमा विवक्ति) श्रेष्ठ जनों के जन्मो-दीर्घ जीवन को विशेष कथन करे, आदर्श प्रदर्शित करे ॥ २ ॥

---

१ "प्राणा वै मित्रः" [श० ६ । ५ । १ । ५]

२ "वा-अपि वा समुच्चयार्थे" [निरु० १ । ५]

३ "अपानो वरुणः" (श० ८ । ४ । २ । ६]

४ "रिशादसः" 'रेशयदासिनः' रेशयतामसितारो यद्वा रेशयाणां वसितारः । [निरु० ६ । १४]

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥३॥

(त्वम्) हे स्तुति करने योग्य परमात्मन् ! तू (पार्थिवानां पशूनाम्-ईशिषे) पृथिवी सम्बन्धी देखने वाले आत्माओं पर स्वामित्व करता है[1] (ये जाताः-उत वा ये जनित्राः) जो उत्पन्न हुए और जो उत्पन्न होने वाले हैं[2] (इमं प्राणः-मा हासीत्-मा-उ-अपान.) इस संयमी जन को वृद्धावस्था से पूर्व प्राण न त्यागे न ही अपान त्यागे।(इम मा मित्राः-बाधिषुः-मा-अमित्राः) इसको न मित्र-स्नेहीजन प्रमाद से मारें न ही शत्रु मारें ॥३॥

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥४॥

(त्वा) हे ब्रह्मचर्य सम्पन्न संयमीजन ! तुझे (द्यौः पिता) द्युलोक पिता के समान पालक (पृथिवी माता) पृथिवी माता के समान धारक-धारण करने वाली (संविदाने) समान लक्ष्य वाले से होकर (जरामृत्यु कृणुताम्) जरा से मरने वाला करें (यथा) जिस प्रकार तू (अदितेः-उपस्थे) पृथिवी के[3] उपस्थान-आश्रय में उससे आहाररस ग्रहण करता हुआ (प्राणापानाभ्यां गुपितः) श्वांस शक्ति प्रश्वास शक्ति के द्वारा रक्षित हुआ (शतंहिमाः-जीवाः) सौ हेमन्त वर्ष[4] तक बहुत वर्षों तक जीवित रह[5] ॥ ४ ॥

---

१ "आत्मा वै पशुः" [काठ० २६ । ८]
"अधीगर्थदयेशां कर्मणि-षष्ठी" [अष्टा० २ । ३ । ५२]

२ "जन् धातोः-इत्रः प्रत्ययः-औणादिके कृत्यार्थे ।

३ "अदितिः पृथिवी नाम" [निघ० १ । १]

४ "शतं हिमा इति शतं वर्षाणि" [श० १ । ९ । ३ । १९]

५ "जीवाः" लेट् प्रयोगः ।

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥५॥

(अग्ने) हे अग्नि-आग्नेयशक्तिप्रद अन्न ! (वरुण) जल (मित्र) वायु[1] (राजन्) राजमान प्रत्येक (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (आयुषे वर्चसे) आयु के लिये-अध्यात्म तेज के लिये (प्रियं रेतः-नयः) प्रिय कमनीय वीर्य-ब्रह्मचर्य बल प्राप्त करा (अदिते) हे पृथिवी-जीवन स्थली ! तू (अस्मै) इसके लिये (माता-इव) माता की भांति (शर्म यच्छ) सुख शरण दे (विश्वे देवाः) अन्य सारे चन्द्रमा सूर्य आदि देव तुम भी सुख शरण दो (यथा जरदष्टिः-असत्) जिससे बुढापे तक को प्राप्त करने वाला या जरावस्था तक पहुंचने वाला हो जावे ॥ ५ ॥

एकोनत्रिंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला)

देवता:—१ अग्निः, सूर्यः, बृहस्पतिः, २ जातवेदाः, त्वष्टा, सविता ३, ७, इन्द्रः, ४, ५ द्यावापृथिव्यौ, विश्वे देवाः, मरुतः आपः । ६ अश्विनौ ।

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥१॥

(देवाः) हे विद्वानों ! (पार्थिवस्य रसे) पृथिवी सम्बन्धी अन्नादि रसीले पदार्थ में (भगस्य तन्वः-बले) भजनीय शरीर सम्बन्धी जीवन बल में (अग्निः सूर्यः-बृहस्पतिः) अग्नि सूर्य और वायु[2] (अस्मै) इस ब्रह्मचारी

---

१ "अयं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते" [श० ६ । ५ । ४ । १४]
२ "अयं वै बृहस्पति योऽयं वायुः पवते" [श० १४ । २ । २ । १०]

बालक के लिये (आयुष्यम्-वर्चः-आधात्) आयु अध्यात्म तेज का आधान करे-सम्यक् धारण करावे ॥ १ ॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

(जातवेदः-अस्मै-आयुः-धेहि) हे उत्पन्न होते ही प्राणी के अन्दर जाने वाले प्राणाग्नि[1] इस ब्रह्मचारी के लिये आयु धारण करा (त्वष्टः-अस्मै प्रजाम्-अधिनिधेहि) हे नाडी जाल में वर्तमान इन्द्र[2] विद्युतशक्ति ! इस ब्रह्मचारी के लिये प्रजा-प्रजनशक्तिरूप वीर्य शक्ति को निहित कर-सुरक्षित रख (सवितः अस्मै रायस्पोषम्-आसुव) हे अन्न ![3] इस ब्रह्मचारी के लिये खानपान आदि के पोष पुष्टि को प्रकट कर (तव-अयम्) तेरा यह ब्रह्मचारी (शतं शरदः-जीवाति) सौ वर्ष जीवे ॥ २ ॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥३॥

(सचेतसौ) हे समान अन्तःकरण-समान कल्याण भाव वाले गुरु गुरुपत्नी दोनों ! (नः) हमारे लिये (आशीः) आशंसनीय-कामना, मङ्गलकामना, माङ्गलिक (ऊर्जम्) रसपूर्णस्वादु फल (उत) और (सौप्रजास्त्वम्) उत्तमप्रजा-सुसन्तान सम्पत्ति (दक्षम्) बल (द्रविणम्) सोना चांदी आदि धन को (धत्तम्) शिक्षा और मार्ग द्वारा धारण कराओ, तथा (इन्द्र) हे राजन् ! (अयम्) यह ब्रह्मचारी विद्वान् बना हुआ आपके राष्ट्र में (सहसा) अपने ज्ञान बल शरीर बल से (क्षेत्राणि जयं कृण्वानः) भिन्न भिन्न कार्य क्षेत्रों को स्वाधीन करता हुआ जीवन यात्रा करे ॥ ३ ॥

---

१ "प्राणो वै जातवेदाः" [ऐ० २ । ३९]
२ "इन्द्रो वै त्वष्टा" [ऐ० ६ । १०]
३ "अन्नमेव सविता" [गो० १ । १ । ३३]

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥४॥

(एषः) यह ब्रह्मचारी स्नातक (इन्द्रेण दत्तः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ने दिया (वरुणेन शिष्टः) वरने वाले[1] आचार्य द्वारा शिक्षित किया हुआ (मरुद्भिः-उग्रः-प्रहितः) विद्वानों से[2] प्रतापी बना हुआ तथा प्रेरित किया हुआ (नः-आगन्) हमारे पास आया है (एषः) यह ब्रह्मचारी स्नातक (द्यावापृथिवी वाम्-उपस्थे मा क्षुधत्-मा तृषत्) हे द्युलोक और पृथिवी तुम्हारे आश्रय में यह न भूखा रहे, न प्यासा रहे जलवृष्टि और अन्न सम्पत्ति से भरपूर रहे ॥ ४ ॥

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥५॥

(ऊर्जस्वती अस्मै-ऊर्जं धत्तम्) हे स्त्री पुरुष प्रजाओं के अन्न वाली तुम दोनों इस स्नातक के लिये अन्न धारण कराओ (पयस्वती अस्मै पयः-धत्तम्) हे जलवाली तुम दोनों इस स्नातक के लिये जल दो (द्यावापृथिवी अस्मै-ऊर्जम्-अधत्तम्) आचार्य आचार्यपत्नी ने इसके लिये अध्ययन काल में ज्ञान बल दिया है (विश्वेदेवाः-मरुतः-आपः-ऊर्जम्) जीवनमुक्तों, कर्मकाण्डी विद्वानों, आप्त जनों-पूर्वस्नातक प्राप्तविद्यावालों ने भी ज्ञान बल दिया है ॥ ५ ॥

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥६॥

---

१ "वरुणोऽसि धृतव्रतः [तै० १ । २ । १० । २]

१ "मरुतः-ऋत्विजः" [निघ० ३ । १८]

(ते) हे ब्रह्मचारी ! तेरे (हृदयम्) हृदय को (शिवाभिः तर्पयामि) कल्याणकारी आनन्ददायी ओषधियों से मैं वैद्य तृप्त करता हूँ (अनमीवः सुवर्चाः-मोदिषीष्ठाः) आक्रमक रोग से रहित रहता हुआ आनन्दित रह (सवासिनौ) हे स्नातक समावर्त्तन के अनन्तर तुम वर वधु समान वास-गृहस्थ होकर (एतं मन्थं पिबताम्) इस जीवनरस मानव बीज शक्ति रूप वीर्य रज को पीओ धारण करो, इमसे (अश्विनोःरूपं मायां परिधाय) दैवाभिषक्[1] सूर्य चन्द्रमा के रूप और बुद्धि को सुरक्षित करके सन्तान निर्माण करो ॥ ६ ॥

इन्द्र एतां संसृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा ।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त
आ सुस्रोद् भिषजस्ते अक्रन् ॥७॥

(विद्धः-इन्द्रः) विधाता[2] ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अग्रे) प्रथम-आरम्भ-सृष्टि में ही (एताम्-अजराम्-ऊर्जाम् स्वधां ससृजे) इस अजर-मानव को जरा से रहित रखने वाली स्व अपने को धारण करने वाली-बलरूप शक्ति[3] उक्त मानव बीज शक्ति को मानव में सर्जित करता है-प्रकट करता है (सा ते एषा ते) वह यह तेरे पास है (एतया) इसके द्वारा (त्वं सुवर्चाः शरदः शतं जीव) तू शोभन तेज वाला हुआ सौ वर्ष तक जीवित रह (ते मा-आसुस्रोत्) तेरी यह वीर्यशक्ति मत अन्यथा बिखरे वहे[4] (भिषजः-ते-अक्रन्) वैद्य जन तेरे लिये इसके रक्षण बर्धन को करते हैं ॥ ७ ॥

---

१ "अश्विनौ वै देवानां भिषजौ" [तै० सं० २ । ३ । ११ । २ ।]
"सूर्यचन्द्रमसावित्येके" [निरु० १२ । १]

२ "विधविधाने" [तुदादि] तत-औणादिक क्तः कर्त्तरि बाहुलकात्, बाहुलकादेव-इटोऽभावः]

३ "ऊर्ज बल प्राणनयोः" [चुरादि]

४ "स्रु गतौ" [भ्वादि०] शपःश्लुश्छान्दसः ।

त्रिंश सूक्त

ऋषिः—प्रजापतिः (प्रजारक्षक विद्वान्)

देवता—१ मनः, २, अश्विनौ, ३, ४ ओषधिः, ५ दम्पती

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा
मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥

(यथावातः) जैसे वायुः (भूम्याम्-अधि) पृथिवी पर (इदं तृणं मथायति) इस तृण को मथता है-स्ववश कर साथ ले जाता है (एव) ऐसे (ते मनः-मथ्नामि) हे वधू ! तेरे मन को विवाह के अनन्तर पत्नी बन जाने पर अपने अन्दर कर विहृत कर/रहा हूँ-भुला रहा हूँ (यथा) जिससे (मां कामिनी-असः) मेरे प्रति तू कामिनी हो-मुझे चाहने वाली हो (यथा) जिस प्रकार (मत्-न-अपगाः-असः) मेरे से पृथक् गति करने वाली-मुझ से अलग भाववाली न हो ॥ १ ॥

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥२॥

(अश्विना कामिना) हे वीर्य-गृहाश्रम योग्य सन्तान-शक्तिसम्पन्न[1] परस्पर कामना वाले स्नातक वर वधू दोनों ! (इत्) अवश्य (सं नयाथः-च) परस्पर मिलकर गृहस्थ जीवन चलाओ (सं वक्षथः-च) और उसका मिलकर सुखप्राप्त करो (वां भगासः सम्-अग्मत) तुम्हें सन्तानादि ऐश्वर्य सम्प्राप्त हो (चित्तानि सम्) तुम्हारे मन भी मिले हों (सम्-उ-व्रता) कर्म[2]

---

१ "वीर्यं अश्वः" [शि० २ । १ । ४ । २३]
२ "व्रतं कर्मनाम" [निघ० २ । १]

भी मिले-एक भाव को प्राप्त हुए हो, यह नववर वधू को वैदिक आशीर्वाद है ॥ २ ॥

यत् सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥३॥

(यथा) जैसे (विवक्षवः सुपर्णाः) बोलने चहचहाने के इच्छुक चहचहाते हुए पक्षी तथा (विवक्षवः-अनमीवाः) बोलने-प्रमोद वार्ता करने के इच्छुक-प्रमोद बोल बोलते हुए (यत्) जिस हर्ष में[1] होते हैं (तत्) उसी हर्ष में आये हुए (मे) मुझे बोलते हुए के हर्ष में (हवम्) शब्द प्रमोद वचन को (गच्छतात्) हे वधू ! तू प्राप्त हो (शल्य.-इव कुल्मलम्) वाण फलक निकले पार करने योग्य[2] लक्ष्य को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥४॥

(ओषधे) हे अग्नि ! विवाह संस्कार सम्पादक[3] (यत्-अन्तरं-तत्-बाह्यम्) मेरे जो अन्दर-मन में है वह बाहर है (यत्-बाह्यं तत्-अन्तरम्) जो बाहर है-वाणी आदि व्यवहार में है वह भीतर है-सत्य सङ्कल्प से वधू को वरता हूँ (विश्वरूपाणां कन्यानाम्) सर्वगुण सम्पन्न कन्याओं के[4] (मनः) मन को (गृभाय) ग्रहण करा ॥ ४ ॥

एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥५॥

---

१ "सप्तमी विभक्तेर्लुक् ।"

२ "कुष निष्कर्षे" [क्र्यादि०] 'कुषेर्लश्च" कमलम्' [उणादि० ४ । १८८]

३ "अग्निः सर्वा ओषधिः" [काठ० १९ । ५]

४ "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" [अष्टा० १ । २ । ५८]

(इयं पतिकामा-आगन्) यह पति को चाहती हुई वधू वैवाहिक यज्ञ वेदी पर आई (अहं जनिकामः-आगमम्) मैं वर जाया को चाहने वाला यहाँ वैवाहिक यज्ञ वेदी पर आया हूँ (यथा कनिक्रदत्-अश्वः) जैसे घोड़ा हर्ष शब्द करता हुआ आता है ऐसे (अहं भगेन सह-आगमम्) मैं इसके सौभाग्य करण सामर्थ्य के साथ इसके प्रति आता हूँ-प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५ ॥

एकत्रिंश सूक्त

ऋषिः—काण्वः (मेधावी जनों में कुशल)

देवताः—१ मही, २-५ क्रिमिजम्भनम् (क्रमिनाशन)

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव ॥१॥

(इन्द्रस्य या मही दृषत्) सूर्य को जो बड़ी दीर्ण करने वाली बड़ी रश्मि शक्ति है (विश्वस्य क्रिमेः-तर्हणी) समस्त रोग क्रमियो को नष्ट करने वाली है[1] (तया) उसके द्वारा (क्रिमीन् सम्पिनष्मि) रोग क्रिमियो को पीसता हूँ (दृषदा खल्वान्-इव) शिला से चक्की से सञ्चित गठित अन्नादि की भांति ॥ १ ॥

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् ।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥२॥

(दृष्टम्-अदृष्टम्-अतृहम्) दीखने योग्य रोगक्रिमि की, न दीखने योग्य रोगक्रिमि को, मैं हिंसित करता हूँ-नष्ट करता हूँ[2] (अथो) तथा-पुनः

१

२ "तृह हिंसायाम्" [रुधादि०] ततः अङ् लुङि छान्दसः प्रयोगः ।

(कुरूरुम्-अतृहम्) कुत्सित अग्नि[1] अग्नि जलन जिसके काटने पर हो उस बिच्छु को (अलगण्डून्) पर्याप्त खुजली करने वाले खटमल जैसे जन्तुओं को[2] (शलुनान्) गतिकरने[3] फैलाने वाले-विसर्प रोग जन्तुओं को (सर्वान् क्रिमीन्) सब क्रिमियों को (वचसा जम्भयामसि) वच ओषधि से नष्ट करते है[4] ॥ २ ॥

अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा
यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥३॥

(अल्गण्डून् महता वधेन हन्मि) पर्याप्त खुजली करने वाले खटमल जैसे क्रिमियों को महान् घातक औषध चूर्ण-पाउडर से नष्ट करता हूँ (दूनाः-अदूनाः-अरसाः-अभूवन्) वे यदि तप्त हुए[5] अपरितप्त हुए भी अबल हो जाते हैं (शिष्टान्-अशिष्टान् वाचा नितिरामि) वचे हुए-अधमरे-मरे हुओं को वच से बाहर निकालता हूँ (यथा क्रिमीणां नकिः-उच्छिषातै) जिससे क्रिमियों का कोई भी शेष नहीं रहे ॥ ३ ॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥४॥

(अन्वान्त्र्यम्) आन्तों के साथी अङ्गों में उदर में होने वाले (शीर्षण्यम्) शिर में होने वाले यूका आदि को (पार्ष्टेयम्) पसली फेफड़े में होने वाले (अथो) और (क्रिमीन्) इन् क्रिमियों को (अवस्कवं व्यध्वरम्)

---

१ "अग्निर्वै रुरू:" [जै० १ । १२२]

२ "अल् पर्याप्तौ" [भ्वादि०] ततः क्रिमि-अल् कण्डु-गकारश्छान्दसः

३ "शल गतौ [भ्वादि०] ततः-उनन् प्रत्ययः-औणादिकः ।

४ "जभि नाशने" [चुरादि०]

५ "दूङ् परितापे" [दिवादि०]

नीचे को उछल कूद करने वाले[1] तथा विवध अङ्गों के पीड़क[2] (क्रिमीन्) क्रिमियों को (वचसा जम्भयामसि) वच से नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥५॥

(ये क्रिमयः) जो क्रिमि (पर्वतेषु) पड़ाड़ों में (वनेषु) वनों में (ओषधीषु) ओषधियों में (पशुषु) पशुओं में (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर होते हैं (ये) जो कि (अस्माकं तन्वम्-आविविशुः) हमारे शरीर में आविष्ट हो जाते हैं घुस जाते हैं (तत्सर्वं जनिम हन्मि) उनके उस सब जन्म-बीज को मैं चिकित्सक नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

द्वात्रिंश सूक्त

ऋषिः—काण्वः (मेधावी)

देवताः—आदित्यः (सूर्यः)

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥१॥

(आदित्यः) सूर्य (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (उद्यन्) उदय होता हुआ (क्रिमीन् हन्तु) क्रिमियों को नष्ट करे-करता है (निम्रोचन्-हन्तु) अस्त होता हुआ भी नष्ट करे-करता है (ये क्रिमयः-गवि-अन्तः) जो क्रिमि-रोगजन्तु पृथिवी[3] पर है ॥ १ ॥

---

१ "स्कुञ् आप्रवणे" [क्रयादि०]
२ ध्वरति हिंसाकर्मा" [निरु० १ । ८]
३ "गोः पृथिवी नाम" [निघ० १ । १]

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥२॥

(विश्वरूपम्) बहुतरूप वाले (चतुरक्षम्) चारों ओर नेत्र शक्ति वाले (सारङ्गम्) चितकबरे (अर्जुनम्) श्वेतरग वाले (क्रिमिम्) क्रिमि को (शृणामि) नष्ट करता हूं (अस्य पृष्टीः-शृणामि) इसकी पसलियां नष्ट करता हूं (यत्-शिरः-अपि) जोशिर है उस भी नष्ट करता हूं ॥ २ ॥

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥३॥

(क्रिमयः) हे क्रिमियो ! (वः) तुमको (अत्रिवत्) खाजाने वाले हिंसक जन्तु की भांति (कण्ववत्) कण कण करने वाले पेषण कर्त्ता की भांति (जमदग्निवत्) भस्म करने वाली प्रज्वलित अग्नि की भांति (अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) पाप त्यागी निर्मल योगी जन के ब्रह्मज्ञान से (क्रिमीन् संपिनष्मि) क्रिमियों को सम्यक् पीसता हूँ-नष्ट करता हूँ ॥ ३ ॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥४॥

(क्रिमीणां राजा हतः) क्रिमियों का राजा प्रमुखक्रिमि हत हो या नष्ट किया जाना चाहिए (उत) और (एषाम्) इनका (स्थपतिः हतः) घर बनाने वाला या स्थानपालक, द्वारपाल स्थविर वृद्धजनक भी हत हो गया-नष्ट होना चाहिए (हतमाता क्रिमिः-हतः) नष्ट माता-जननी जिसकी है, वह क्रिमि हत हो गया जानना चाहिए (हत-भ्राता हतस्वसा) भाई समेत हत-नष्ट करने योग्य है और बहिन समेत नष्ट होने योग्य है ॥ ४ ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥५॥

(अस्य) इस क्रिमी के (वेशसः-हतासः) अण्डे नष्ट कर देने योग्य हैं (परिवेशसः-हतासः) जाल खोल भी नष्ट करने योग्य हैं जिनमें रहते हैं (अथो) और (ये क्षुल्लकाः-इव) जो क्षुद्र छोटे बच्चे हैं[1] (ते सर्वे क्रिमयः-हताः) वे सब क्रिमी नष्ट करने योग्य हैं ॥ ५ ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।

भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥६॥

(ते) हे क्रिमि ! तेरे (शृङ्गे प्रभिनद्मि) सींगों, दोनों ओर के काण्टों को तोड़ता हूं (याभ्यां वितुदायसि) जिनके द्वारा तू व्यथित करता है-पीड़ा देता है (ते) हे क्रिमि ! तेरे (कुषुम्भं भिनद्मि) विषकांटे को तोड़ता हूँ (ते यः-विषधानः) जो तेरा विष स्थान है ॥ ६ ॥

त्रयस्त्रिंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (चिकित्सक विद्वान्)

देवताः—यक्ष्मविबर्हणम् (रोग नाश) चन्द्रमा आयुष्यं च

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।

यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥

(ते) हे रोगी ! तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आंखों से (नासिकाभ्याम्) दोनों नासिकाछिद्रों से (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से (छुबुकात्-अधि) मुख से[2] (मस्तिष्कात्) मस्तिष्कस्नेह से-भेजे से (जिह्वायाः)

---

१ "क्षुद्रकाः" इत्यस्य क्षुल्लकाः-छान्दसः प्रयोगः

२ 'छुबुक' शब्द का ठोडी अर्थ सायण आदि भाष्यकारों ने किया है पर ठोडी अर्थ यहाँ नहीं है यहाँ मुख अर्थ है । प्रथम आयुर्वेद में ठोडी के रोग का प्रसङ्ग नहीं पुनः "सप्त वै० शीर्षण्याः प्राणाः द्वे चक्षुषी द्वे श्रोत्रे द्वे नासिके एकमास्यम्" [तै० १ । २ । ३ । ३] "वैद्यक शब्द सिन्धु" में छुबुक का अर्थ मुख दिया भी है ।

जिह्वा से (ते) तेरे (शीर्षण्यं यक्ष्मम्) शिरः संस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामसि) निकालते हैं ॥ १ ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२॥

(ते) हे रोगी ! तेरे (ग्रीवाभ्यः) ग्रीवा भागों से (उष्णिहाभ्यः) कण्ठ की स्निग्ध नाड़ियों से युक्त अवयवों मे (कीकसाभ्यः) हंसली के भागों से (अनूक्यात्) मेरुदण्ड मूल से (अंसाभ्याम्) दोनों कंधों से (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से (ते) तेरे (दोषण्यं यक्ष्मम्) भुजसंस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामि) निकालता हूँ ॥ २ ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥३॥

(ते) हे रोगी तेरे (हृदयात्) हृदय से (क्लोम्नः परि) दाऐं फेफड़े से[1] (हलीक्ष्णात्) बाऐं फेफड़े से (पार्श्वाभ्याम्) दोनो पर्शुओं से (मतस्नाभ्याम्) दोनों वृक्को-गुर्दो से (प्लीह्नः) तिल्ली से (यक्नः) तेरे यकृत्-जिगर से (विवृहामसि) निकालने हैं ॥ ३ ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥४॥

(ते) तेरे (आन्त्रेभ्यः) आन्तों से (गुदाभ्यः) गुदा भागों से (वनिष्ठोः) स्थूल आन्तों से (उदरात्-अधि) पेट से (कुक्षिभ्याम्) दोनों

---

१ "क्लोम फुप्फुस इति भरतः । "क्लोमः फुप्फुस" [वैद्यक शब्द सिन्धुः]

कोखों से (प्लाशेः) मूत्राशय-मसाने से (नाभ्याः) नाभिसे (ते) तेरे (यक्ष्मम्) मध्य संस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामि) निकालता हूँ ॥४॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥५॥

(ते) तेरी (ऊरुभ्याम्) दोनों जङ्घाओं से (अष्ठीवद्भ्याम्) दोनों घुटनों से (पार्ष्णिभ्याम्) दोनों एड़ियों से (प्रपदाभ्याम्) पैरों के दोनों पंजों से (श्रोणिभ्याम्) दोनों कूल्हो से (ते) तेरे (भसद्यं यक्ष्मम्) जघन्यरोग-अधो अङ्ग संस्थान सम्बन्धी रोगो को (भंससः) गुप्त स्थान से (भासदम्) गुह्य संस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामि) निकालता हूँ ॥५॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥६॥

(ते) तेरी (अस्थिभ्यः) हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जाओं से (स्नावभ्यः) शिराओं से (धमनिभ्यः) धमनियों-श्वासनाड़ियों से (पाणिभ्याम्) दोनों हाथों से (अङ्गुलिभ्यः) अङ्गुलियों से (नखेभ्यः) नखों से (ते) तेरे (यक्ष्मम्) उपाङ्गसंस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामि) निकालता हूँ ॥ ६ ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य
वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७॥

(यः) जो (ते) तेरे (अङ्गे अङ्गे) शरीर के अवयव-प्रत्येक मांस पेशी में (लोम्नि लोम्नि) रोम रोम में (पर्वणि पर्वणि) जोड़ जोड़ में वर्तमान- (ते) तेरे (त्वचस्यं यक्ष्मम्) त्वचा संस्थान सम्बन्धी रोग को

(कश्यपस्य वीबर्हेण) कश्यप-सूर्य के बिखरीरश्मि से युक्त चन्द्रमा या कश्यप-प्रमरीमृग गो[1] के बाल गुच्छ-पुच्छ मे (वि वृत्तामसि) निकालते हैं-दूर करते हैं ॥ ७ ॥

चतुर्स्त्रिंश सूक्त

ऋषि:—अथर्वा (स्थिर मन वाला)
देवता:—१ पशुपति:, (परमात्मा)
२ देवा:, (जीवन्मुक्त)
३ अग्निर्विश्वकर्मा; (विश्व रचयिता अग्रणायक)
४ वायु: प्रजापति:; (प्राणरूप पालक)
५ आशी: (आर्शीवाद:)

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥१॥

(य:) जो (पशूनां पशुपति:) देखने वाली ज्ञानेन्द्रियों[2] का देखने वाला आत्मा है उसकास्वामीपालक कर्मफल दाता परमात्मा है वह (य:-चतुष्पदाम्-उत द्विपदाम्-ईशे) जो चार पैर वाले गवादियों पर और दो पैर वालों पर स्वामित्व करता है (स:-निष्क्रीत:) वह अन्दर आत्मा मे निदिध्यासन से प्राप्त किया हुआ (यज्ञियं भागम्-एतु) अध्यात्म यज्ञ के पात्र कृपापात्र को प्राप्त हो (राय:-पोषा:-यजमानं सचन्ताम्) विविध ऐश्वर्य के सुखफल अध्यात्म याजी को समवेत हों-प्राप्त हों ॥ १ ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥२॥

---

१ "कश्यप: मृगविशेष:" [वैद्यकशब्द सिन्धु:]
२ "इन्द्रियं वै पशव:" [मै० २ । २ । ८]

(देवाः) हे जीवनमुक्त महात्माओ ! तुम (यजमानाय) अध्यात्म यज्ञ करने वाले आत्मयाजी के लिये (भुवनस्य रेतः प्रमुञ्चन्तः) अध्यात्म यज्ञ[1] का उपदेश[2] अपने से प्रसर्जन-प्रदान करते हुए (गातुं धत्त) मोक्षमार्ग को धारण कराओ (यत्-उपाकृतं शशमानं प्रियम्-अस्थात्) जो अनुष्ठित कर्मफल-शशमान-प्रशंसनीय[3] प्रिय है-अभीष्ट है (तेषाम्-अपि पाथः-पशु) जीवन मुक्तों का [illegible] अन्न मोक्ष भोग[4] उसे प्राप्त हो ॥ २ ॥

ये बुध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥३॥

(ये दीध्यानाः) जो निदिध्यासनशील-अध्यात्मयाजी (बध्यमानम्-मनसा-अनु-ऐक्षन्त च चक्षुषा-अनु) बन्धन में आए बद्ध आत्मा को मनसे देखते-जानते हैं और साक्षात् नेत्र से भी पीड़ित को देखते हैं (तान्) उन ज्ञानी, ध्यानी जनों को (विश्वकर्मा-अग्निः-देवः) विश्वरचयिता सर्व अग्रणायक परमात्मदेव (प्रजया संरराणः) प्रजा मात्र के साथ रचन धारण कर्मफल प्रदान में रममाण हुआ (अग्रे प्रमुमोक्तु) प्रथम प्रमुक्त करता है-मोक्ष प्रदान करता है ॥ ३ ॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥४॥

(ये पशवः-ग्राम्या) जो आत्माएं[5] मिलजुलकर रहने वाले परस्पर कल्याण साधक निष्काम जन (विश्वरूपाः-विरूपाः-सन्तः) सब समान धर्मी

---

१. "यज्ञो वै भुवनम्" [तै० ३ । ३ । ७ । ५]
२. "वाग्घि रेतः" [श० १ । ५ । २ । ७]
३. "शशमानः शंसमानः" [निरु० ६ । ८]
४ "देवानां पाथः-देवानामन्नम्" [निरु० ८ । १६]
५ "आत्मा वै पशुः" [कौ० १२ । ७]

या विभिन्न स्वभाव वाले होते हुए भी (बहुधा-एकरूपः)प्रायः एकरूप-आत्मभाव में वर्तमान हैं (तान्) उन्हें (वायुः-प्रजापतिः-अग्रे मुमोक्त) प्राणस्वरूप प्रजापालक परमात्मा प्रथम मुक्त करता है (प्रजया संरराणः) अपनी प्रजा से सम्यक् रममाण हुआ ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥५॥

(पूर्वे प्रजानन्तः) पुराकाल वाले-प्रकृष्ट ज्ञानी जन (अङ्गेभ्यः) अङ्गों के लिये-अङ्गों में धारण करने के लिये (प्राणंपरि-आचरन्तम्) सर्वत्र शरीर में परिगति करते हुए प्राण को (प्रति गृह्णन्तु) स्वाधीन करें करते हैं-अन्यथा न खोऐं-नहीं खोते हैं (दिवं गच्छ शरीरैः प्रतितिष्ठ) अतः हे मुमुक्षुः ! तू अपने शारीरिक अङ्गों से प्रतिष्ठित हो-पृथिवी से ऊपर उठ-प्रकाश की ओर जा (देवयानैः पथिभिः) देवयान मार्गों से (स्वर्गं याहि) सुख-मोक्षसुख को प्राप्त हो ॥ ५ ॥

पञ्चत्रिंश सूक्त

ऋषिः—अङ्गिराः (अङ्गों का प्रेरक संयमी जन)

देवताः—विश्वकर्मा (विश्वरचयिता)

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥१॥

(ये भक्षयन्तः) जो लोग भोजन करते हुए-संसार के भोग भोगते हुए भी (वसूनि न-आनृधुः) अपने अन्दर जीवन के बसाने वाले रक्तादि तत्त्वों को बटा सके-बंटा सकते हैं अपितु (यान्) जिनको-जिन केवल भोगियों को (धिष्ण्याः-अग्नयः-अन्वतप्यन्तः) प्राणाग्नियां अनुतापित करते[1] (तेषां

---

१ "प्राणा वा एते यद् धिष्णियाः" [तै० सं० ६ । २ । १ । ५]

या दुरिष्टिः) उनकी जो दुरिच्छा, दुर्भावना (तां नः स्विष्टिं विश्वकर्मा कृणवत्) उसे हमारे लिये विश्वरचयिता परमात्मा सद्भावनारूप करदे ॥ १ ॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम् ।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥२॥

(प्रजाः-अनुतप्यमानम्) प्रजायमान प्राणियो को दुःखी देख उनके पीछे तप्यमान-चिन्तित (एनः-यज्ञपतिम्) इस अध्यात्म यज्ञ के पति-अध्यात्म याजी जन (ऋषयः) जीवनमुक्त (एनसा निर्भक्तम्-आहुः) पाप से रहित (आहुः) कहते हैं (यान् मथव्यान् स्तोकान्) जिन मथने योग्य-विवेचनीय सूक्ष्म तत्त्वों में मोक्षानन्दाशों को (अपरराध) मुक्तों के लिये छोड़ता रहा है-त्याग रहा (तेभिः-नः संसृजतुः-विश्वकर्मा) उनसे हमें संसृष्ट करे-संयुक्त करे विश्वरचयिता परमात्मा ॥ २ ॥

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः ।
यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥३॥

(विश्वकर्मन्) हे विश्वरचयिता परमात्मन् ! (एषः-बद्धः) यह बद्ध आत्मा (यत्-एनः-चकृवान्) जो संसार में बद्धावस्था में पापकर चुका है-करता है (स्वस्तये तं प्रमुञ्च) उसके कल्याण के लिये तू उसे बन्धन से छोड़-छोड़ता है ऐसे (सोमपान्-अदान्यान्) शान्त स्वरूप परमात्मानन्दरस पान करने वालों को न दान करने योग्य (मन्यमानः) मानता हुआ-उनका अनादर करता हुआ-अपराधी बनता है और (यज्ञस्य विद्वान्) यज्ञ को जानता हुआ (न समये धीरः) जैसे समय-अवसर पर पश्चाताप कर धीर बन जाता है-पाप से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥४॥

(ऋषय:-घोरा:) ऋषि महानुभाव-तेजस्वी प्रवचन कर्त्ता होते हैं (यत्) यतः (एषां चक्षुः-मनसः-च सत्यम्) इनकी आंख और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सत्य होते हैं-यथावत् देखते है यथावत् मनन विवेचन चिन्तन करते हैं (एभ्य:-नमः-अस्तु) इनके लिये अन्नादि से स्वागत हो (महिष विश्वकर्मन्) हे महान् विश्वरचयिता परमात्मन् ! (बृहस्पतये नमः) तुझ वेदवाणी के स्वामी के लिये स्वागत है जिस तेरी वेदवाणी का ये ऋषि हमें प्रवचन करते हैं (अस्मान् पाहि) तू हमारी रक्षाकर ॥ ४ ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥५॥

(विश्वकर्मणा इमं यज्ञं विततम्) विश्वरचयिता परमात्मा ने इस सृष्टि यज्ञ को फैलाया है (देवाः सुमनस्यमानाः) विद्वान् जन सुप्रसन्न निर्मल मन वाले हुए (यन्तु) इसे प्राप्त करें-करते हैं, इसमें विश्वरचयिता को पाते हैं सो मैं उपासक भी (यज्ञस्य) जो सृष्टि यज्ञ का (चक्षुः) दर्शक प्रकाशक (प्रभृतिः) प्रकृष्ट रूप से भरण कर्त्ता-धर्त्ता (मुखम्) मुख आदि भूत भी हैं (वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि) उस विश्वरचयिता परमात्म देव को मैं भी वाणी द्वारा स्तुति करके श्रोत्र द्वारा श्रवण करके मन से मनन करके स्वीकार करता हूँ-अपनाता हूँ ॥ ५ ॥

षट्त्रिंश सूक्त

ऋषि:—पतिवेदनः (विवाह संस्कार कर्ता)
देवता—१ अग्निः; २ सोमः, अर्यमा, धाता; ३ अग्नीषोमौ; ४ इन्द्रः; ५ सूर्य; ६ धनपतिः; ७ हिरण्यम्, भगः; ८ ओषधिः ।

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन ।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥१॥

(अग्ने) हे अग्रणी विवाह में आगे होने वाले साक्षीरूप में वर्तमान पुरोहित ! (सम्भलः) कल्याण स्वरूप कथा का आदान कर्त्ता-स्वीकार कर्त्ता इच्छुक वरण कर्त्ता वर (नः) हमारी (इमां सुमतिं कुमारीम्) इस उत्तम मति वाली सुशिक्षित सुगुणा कुमारी-कन्या को (नः-भगेन सह) हमारे भजनीय भाव के साथ समर्पित की जाती हुई को (आगमेत्) समन्तात्-मनोभाव से प्राप्त हो-उसके साथ विवाहार्थ स्वीकार कर (समनेषु वल्गुः जुष्टा) समान मन वाले-समान गुण वाले[2] वरों के निमित्त चाहने वरने योग्य है (अस्यै) इसके लिये (पत्या) वरणीय पति के साथ (वल्गुः-ओषं सौभगम्-अस्तु) प्रियभाषण-प्रेमालाप[3] समन्तवास रूप सौभाग्य हो ॥ १ ॥

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥२॥

(सोमजुष्टम्) यज्ञ से सेवित[4] (ब्रह्मजुष्टम्) ब्राह्मणों, ऋत्विजों, से सेवित-अनुमोदित (अर्यम्णा सम्भृतम्) राजा-न्यायाधीश राजनीति से पोषित (भगं पतिवेदनम्) सौभाग्य रूप पति की प्राप्तिरूप वचन-विवाह सम्बन्ध को (धातुः-देवस्य सत्येन) विधाता परमात्म देव के नियमानुसार (कृणोमि) मैं कन्या का पिता करता हूँ ॥ २ ॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥

(अग्ने) हे विवाह के अग्रणी विद्वान् पुरोहित ! (इयं नारी) यह विवाह के योग्य युवती कुमारी (पतिं विदेष्ट) पति-पालन योग्य वर को प्राप्त

---

१ "भल आभन्दने" [चुरादि०] "भल आदाने" [भ्वादि०]

२ "समना समनसः" [निरु० ७ । १७]

३ "वल्गुः वाङ्नाम" [निघ० १ । ११]

४ "यज्ञस्सोमः" [जै० १ । २५१]

करे[1] (सोमः-हि राजा) विवाह संस्कार में ही प्रकाशमान अग्नि (सुभगां कृणोति) सौभाग्यवाली-गृहपत्नी बनती है[2] (पुत्रान् सुवाना) पुत्रों को उत्पन्न करने के हेतु (महिषी भवाति) परिवार में रानी के समान स्वागत योग्य है[3] (पतिगत्वा-सुभगा विराजतु) पति को प्राप्त करके सौभाग्यवती विराजमान हो ॥ ३ ॥

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सम्प्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

(मघवः) हे ऐश्वर्यवन् (यथा) जिस प्रकार (आखरः) भू गृह भर[4] (मृगाणाम्) वन्य पशुओं का सुरक्षित (एकः-प्रियः-चारुः-सुषदाः बभूव) यह प्यारा सुन्दर सुगमतया बैठने योग्य होता है (एवा) ऐसे (भगस्य जुष्टा) सौभाग्य से प्रीति में लाई हुई (इयं नारी) यह विवाहित नव पत्नी (पत्या) पति के साथ (सम्प्रिया-अविराधयन्ती-अस्तु) सम्यक् प्रियाचरणों को अभिराधयन्ती[5] परस्पर साधती हुई हो-अनुकूल अनुरूप साधती हुई हो ॥ ४ ॥

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥५॥

(भगस्य पूर्णाम्) सांसारिक ऐश्वर्य रूप गार्हस्थ्य सौभाग्य की पूर्ण भरी (अनुपदस्वतीं नावम्) अनुपक्षीण-दोषरहित नौका-गृहाश्रमरूप नौका के ऊपर (आरोह) चढ़-प्राप्तकर (तया) उसके द्वारा (यः-वरः प्रतिकाम्यः)

---

१ "विदूल लाभे ततः-आशिषि लिङ्" ।

२ "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" [अष्टा० ४ । १ । ३३]

३ "सम्राज्ञी श्वसुरे भवः" [ऋ० १० । ८५ । ४३]

४ "सायण भाष्य पाठः ।

५ "खनो घ च" [अष्टा० ३ । ३ । १२५ अतो ' उरो वक्तव्यः' वा०]

जो वर नियत कमनीय है (उपतारय) उसका आश्रयकर स्वजीवन यात्रा को पारकर-चला ॥ ५ ॥

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥६॥

हे कन्या-विवाहित नारी ! (यः प्रतिकाम्यः-वरः) जो प्रति कमनीय वर है उसे (धनपते-आक्रन्दय) हे धनपति ! कहकर बुला[1] (आमानसं वरं कृणु) मनोनुकूल वर को बना-अपने में पूर्णरूप से बिठा (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) सब तन-मन सहित अपने को उसके प्रदक्षिण कर-दक्षिणाङ्ग बना ॥ ६ ॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥७॥

(इदं हिरण्यं गुल्गुलु) यह सौवर्ण धन आभूषण गुद्गुदे क्रीड़ा साधन[2] विस्तर वेश पलङ्ग (अयम्-औक्षः) यह उक्षा-वृषभ से वहन योग्य रथ-आजकल विद्युत् से चालित कार (अथो भगः) और भजनीय-सेवनीय-कमनीय घर (एते) ये कन्या के पितृकुल के जन (पतिभ्यः) पति के लिये[3] (अदुः) देते हैं (प्रतिकामाय) तेरी नियत कामना पूर्णार्थ (त्वाम्) तुझे प्राप्त करने को-पत्नीरूप में स्वीकार करने को[4] ॥ ७ ॥

---

१ लोक में पति को धनी कहते हैं ।
"क्रदि आह्वाने" [भ्वादि०]
२ "गुद् क्रीडायाम्" [भ्वादि०]
३ "बहुवचनमादरार्थम् ।
४ "विद्लृलाभे" [तुदादि०] ततः "तुमर्थे से.... ....तवेनः"
[अष्टा० ३ । ४ । ९] इति तवेन् प्रत्ययः ।

आ ते॑ नयतु सवि॒ता न॑यतु॒ पति॒र्यः प्र॑तिका॒म्यः ।
त्वम॑स्यै धे॑ह्योषधे ॥८॥

(ते) हे कुमारी तेरा (सविता) उत्पादक पिता (आनयतु) विवाहार्थ-विवाह वेदि स्थान पर लाता है (यः प्रतिकाम्यः पतिः) जो आकाङ्क्षा में कमनीय पति है वह (नयतु) तुझे विवाह कर ले जावे (ओषधे-त्वम्-अस्यै धेहि) हे ओष को-ताप-प्रकाश को धारण करने वाली अग्नि-वेदिरूप अग्नि या वेदि में विवाहावसर होम द्रव्य ! तू इस वधू-विवाहित नारी के लिये पति को धारण कर-पति बना ॥ ८ ॥

इति अथर्ववेद ब्रह्ममुनिभाष्य
द्वितीय काण्ड ॥

तृतीय काण्ड

प्रथम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर रहने वाला)

देवता:—१ अग्निः (आग्नेय-अस्त्र वाला); २ मरुतः (सैनिकजन); ३-६ इन्द्रः ॥

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१॥

(अग्निः) अग्नि समान अस्त्रवान्[1] (विद्वान्) युद्ध कला का ज्ञाता (शत्रून्-प्रत्येतु) शत्रुओं के प्रति जावे-शत्रुओं पर आक्रमण करे, उसमें (अभिशस्तिम्) सामने आकर घात करने वाले[2] (अरातिम्) न देने वाले अपितु लेने-हरने वाले धन देश के हड़पने वाले को (प्रतिदहन्) जलाता हुआ (सः) वह (परेषां सेना मोहयतु) परों-शत्रुओं की सेनां को मुग्ध करदे-निःसत्त्व बनादे (जातवेदाः) वह संग्रामगत नीतियों को जानने वाला (च) और (निर्हस्तान्) शत्रुओं को निहत्थे बनादे-कुछ न कर सकने वाले बनादे ॥ १ ॥

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥२॥

---

१ "मतुब्लोपश्छान्दसः"

२ "शंसुर्हिंसायाम्" [भ्वादि०]

(मरुतः) हे सैनिक जनो ![1] (यूयम्-उग्राः-स्थ) तुम बड़े चढ़े बलवान् प्रतापी हो (अभिप्रेत मृणत सहध्वम्) शत्रुओं की ओर बढ़ो उन्हें हिंसित करो अपने अधीन करो-दबाओ (इमे नाथिताः-वसवः) ये आप बसाने वाले प्रार्थित हुए (अमीमृणन्) शत्रुओं को हिंसित करते हो[2] तो (एषां दूतः-अग्निः प्रत्येतु) इन आप लोगों का अग्रणी आग्नेयास्त्र शत्रुओं पर प्रहार करता हुआ आगे चले-चलता है ॥

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥३॥

(मघवन् वृत्रहन्-इन्द्र) हे राष्ट्रैश्वर्यवन् पापीहन्ता वैद्युतास्त्र वाले राजन् ! (च) और (अग्निः) अग्रनायक आग्नेयास्त्र प्रयोक्ता सेनानी (युवम्) तुम दोनों (अस्मान्-शत्रूयतीम्-अमित्रसेनाम्) हमारे प्रति शत्रुता करने वाली शत्रुसेना को (अभि) अभिभूत कर-आक्रान्त कर (ताम्) उसे (प्रतिदहतम्) प्रतिदग्ध करो ॥ ३ ॥

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥४॥

(इन्द्र) हे विद्युदस्त्रवान् राजन् ! (ते वज्रः) तेरा वैद्युत अस्त्र (हरिभ्यां प्रसूतः) शुष्क और आर्द्र धाराओं द्वारा प्रेरित-फेंका हुआ (प्रवता) प्रगति के साथ-वेग से (शत्रून्-प्रमृणन्) शत्रुओं को मारता हुआ (प्र-एतु) आगे चले (प्रतीचः-अनूचः पराचः-जहि) पीछे वाले साथ वाले-दूर सामने आले शत्रुओं को मार (एषाचित्तं सत्यं विष्वक्-कृणुहि) इनके सत्य-एकाग्रमन को विषम[3] घबराया हुआ करदो ॥ ४ ॥

---

१ "असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानेत्यभ्योजसा स्पर्द्धमाना तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्योऽन्यं न जानान्" ॥ [अथ०]

२ "मृण हिंसायाम्" [तुदादि०]

३ "विषुरूपे···विषमरूपे" [निरु० १२ । १७]

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥५॥

(इन्द्र) हे वैद्युत शक्ति सम्पन्न राजन् ! तू (अमित्राणां सेना मोहय) शत्रुओं की सेना को मुग्ध करदे-विमूढ़ बनादे-कुछ भी करने में अशक्त करदे (अग्नेः-वातस्य ध्राज्या) आग्नेय अस्त्र और वातास्त्र की गति दाहक प्रचलित करने वाली के द्वारा (तान् विषूचः-विनाशय) उन्हें विषम-अव्यवस्थित कर विनष्ट कर ॥ ५ ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥६॥

(इन्द्रः) वैद्युतास्त्रवान् राजा (सेनां मोहयतु) शत्रु सेना को मूढ़ बनादे (मरुतः-ओजसा घ्नन्तु) मारने वाले वीर सैनिक बल से शत्रुओं को मारें (अग्निः-चक्षूंषि-आदत्ताम्) आग्नेयास्त्रवान् चकाचौंध कर शत्रुओं की आंखों को ले ले-शक्ति हीन करदे (पराजिता पुनः-एतु) पराजित हुई शत्रु सेना वापिस चली आवे ॥ ६ ॥

द्वितीय सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर रहने वाला)

देवताः—१, २ अग्नि. (आग्नेयस्त्रवान्)

३, ४ इन्द्र (वैद्युतास्त्रवन्)

५ अप्वायमान; ६ मरुतः (सैनिककार)

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१॥

(नः-दूतः) हमारा दूत-प्रहारक शत्रुबल का वारण कर्त्ता[1] (अग्निः) अग्रणी-आग्नेयास्त्रवान् (विद्वान्) युद्धकला वेत्ता (प्रत्येतु) शत्रुओं पर प्रतिक्रमण करे-चढ़ाई करे (अभिशस्तिम्-अरातिं प्रतिदहन्) सामने आकर घात करने वाले धनदेश के हड़पने वाले को जलाता हुआ (सः) वह (परेषां चित्तानि मोहयतु) शत्रुओं के चित्तों को मूढ़ बनादे (च) और (जातवेदाः) संग्राम नीतियों का जानने वाला (निर्हस्तान् कृणवत्) शत्रुओं को निहत्थे बनादे-असमर्थ करदे ॥ १ ॥

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥२॥

(वः) हे शत्रुओ ! तुम्हारे (हृदि) हृदय में (यानि चित्तानि) जो मन बुद्धि चित्त अहंकार हैं उन्हें (अयम्-अग्निः) यह आग्नेयास्त्रवान् सेनानी (अमूमुहद्) मूढ़ बना देता है (वः-ओकसः) तुम्हारे घरों-शिविरों-छावनियों को (विधमतु) विनष्ट-नष्ट भ्रष्ट करदे-कर सकता है[2] (वः) तुमको (सर्वतः प्रधमतु) सब ओर से प्रकृष्ट रूप से नष्ट करदे-कर देता है ॥ २ ॥

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥३॥

(इन्द्र) हे वैद्युतास्त्रवन् राजन् ! (चित्तानि) शत्रुओ के मन बुद्धि चित्त अहंकार को (मोहयन्) मूढ बनाता हुआ या मूढ बनाने के हेतु (अर्वाङ्-आकूत्या चर) इधर हमारी ओर शिवसंकल्प से प्राप्त हो (अग्नेः-वातस्य ध्राज्या) आग्नेयास्त्र वातास्त्र की गति प्रवृत्ति-दाहक विचालक शक्ति

---

१ "दूतो वारयतेः" [निरु० ६ । २३]

२ "धमनि वधकर्मा" [निघ० २ । १९]

से (ताम् विषूच:-विनाशय) उन्हें विषम-अव्यवस्थित विचालित कर विनष्ट कर ॥ ३ ॥

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥४॥

(एषाम्-आकूतय:) इन शत्रुओं के प्रमुख चिन्तक सेनाध्यक्ष (वि-इत) दूर जाओ (अथ-उ) और (चितानि मुह्यत) इनके मन-बुद्धि-चित्त अहंकार तुम मूढ हो जाओ, । हमारे प्रयोगों से (अथ-उ) और हाँ (एषां-हृदि) इनके हृदय में (यत्-अद्य) जो आज-अब है (एषां ततः परिनिर्जहि) इनका उस विचार को सब प्रकार नष्ट कर ॥ ४ ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥५॥

(अप्वे) हे हमारे अस्त्र प्रहार से हुई गहन व्याधि या भय ![1] (परेहि) यहाँ से परे जा (अमीषां चितानि) इन शत्रुओं के चित्तों-मन बुद्धि चित्त अहंकार को (प्रतिमोहयन्ती) प्रतिमूढ करती हुई (अङ्गानि गृहाण) इनके अङ्गों को पकड़-जकड़ दे-जड बनादे (अभिप्रेहि) उन्हे स्वाधीन कर (हृत्सु) हृदयों में (शोकै:-अमित्रान्-निर्दह) सन्तापो से पूर्णरूप से दग्धकर (ग्राह्या-अमित्रान् शत्रून्-तमसा विध्य) अपनी पकड़ शक्ति से विरोधी शत्रुओं को अन्धकार से वीन्ध ताड़ित कर ॥ ५ ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥६॥

---

१ "अप उपसर्गपूर्वाद्द् वा गतित्यादि-[अदादि०] असनार्थेवन् प्रत्ययान्तो निपात्यते" 'शेवायह्वाग्रीवाऽप्वामीवा:' [उणादि० १ । १५४]

(मरुतः) हे शत्रुओं को मारने वाले सैनिको ! (परेषां या असौ सैना) परों-शत्रुओं की जो वह सेना (स्पर्द्धमाना) संघर्ष करने के हेतु[1] (अस्मान्-ओजसा-अभ्येति) हमारे पर वेग से चढ़ती आ रही है (ताम्) उसे (अपव्रतेन तमसा) कर्म से[2] च्युतकर देने वाले तमः-अन्धकार फैलाने वाले अस्त्र-तामसास्त्र से (विध्यत) ताडित करो (यथा-एषाम्-अन्यः-अन्यं न जानात्) जिससे इनमें एक दूसरे को न जान सकें ॥ ६ ॥

तृतीय सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर रहने वाला)

देवताः—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः (अग्नि आदि मन्त्रों में कहे)

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥१॥

(अग्ने) हे अग्रनायक राजन् ! तू (इह स्वपाः-भुवद्) इस राष्ट्र में अपनी प्रजा का पालन कर्त्ता है, अतः (अचिक्रदत्) प्रजागण तुझे आहूत करता है-अपनी रक्षादि के लिये बुलाता है (उरूची रोदसी व्यचस्व) तू अपने प्रजारक्षण कार्य द्वारा राष्ट्र के रोधन करने वाले-ओर छोर को व्याप्तकर इधर से उधर तक यशस्वी रूप में प्रवृद्ध हो (त्वा) तुझे (विश्ववेदसः मरुतः) सारे राष्ट्र में प्रविष्ट विद्वान् जन (युञ्जन्तु) युक्त हो-प्राप्त हो (नमसा-रातहव्यं अमुम्-आनय) नम्रभाव से उपहार देने वाले जन को उस अपने पूर्ण रक्षण की ओर-ले आ ॥ १ ॥

---

१ "स्पर्द्ध संघर्ष" [भ्वादि०] ततः "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" [अष्टा० ३ । २ । १२६] इति शानच् प्रत्ययः ।

२ "व्रतं कर्म नाम" [निघं० २ । १]

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥२॥

(अरुषासः) आरोचमान-ज्ञान मे प्रकाशमान राष्ट्र के विद्वान् जन (सख्याय) सखाभाव के लिये (विप्रम्-इन्द्रम्) मेधावी राजा को (दूरे चित् सन्तम्) अपने से दूर होते हुए को भी (आच्यावयन्ति) समन्त रूप से प्राप्त करें (यत्) यतः (अस्मै) इसके लिये (सौत्रामण्या) उत्तम त्राण करने वाली राजसूय पद्धति से (देवाः) विद्वान् जन (गायत्रीं बृहतीम्-अर्कं दधृषन्त) वाणी को[1] मन को[2] पुनः पुनः आचरण में धारण करें उसकी अनुकूलता में रहे उसके आदेश और विचार का अनुसरण करें ॥ २ ॥

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वाह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वाह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥३॥

(त्वा) हे राजन् ! तुझे (अद्भ्यः-वरुणः-राजा-ह्वयतु) जैसे जलों के लिये जलव्यवस्था के लिये जलाधिकार वरुणराजा अपनाता है[3] (त्वा) तुझे (पर्वतेभ्यः सोमः-ह्वयतु) पर्वतों के लिये पर्वतों की व्यवस्था के लिये पर्वताधिपति अङ्गीकार करता है (त्वा) तुझे (इन्द्रः-आभ्यः-विड्भ्यः-ह्वयतु) ऐसे ही पुरोहित इन प्रजाजों के लिये इन प्रजाओं के शासन के लिये स्वीकार करता है (श्येनः-भूत्वा-इमाः-विशः-आपत) प्रशंसनीय गति प्रवृति वाला होकर इन प्रजाओं में इनके शासन के लिए आजा ॥ ३ ॥

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥४॥

१ "वाग्वै गायत्री" [काठ० २३ । १]
२ "मनोवृहती" [जै० ५ । ५८]
३ "वरुणोऽपामधिपतिः" [तै० सं० ३ । ६ । ५ । १]

(श्येनः) शंसनीय प्रवृत्ति वाला राजपुरोहित (अन्यक्षेत्रे चरन्तम्-अपरुद्धं-हृव्यम्-परस्मात्-आनयतु) अन्य राज्य में विचरते हुए रोके हुए अपने बुलाने योग्य शासक को पर स्थान से ले आवे (अश्विना सुगं पन्थां कृणुताम्) सूर्य चन्द्र के समान व्यापनशील दिनरात्रि में खोज करने वाले गुप्तचर तेरे लिये-उसके लिये सुगम आने का मार्ग तैयार करे (इमम्) इस अपने शासक को (सजाताः-अभिसंविशध्वम्) हे साथ प्रसिद्ध राजवंशीय जन तथा राजसभा सदा तुम उस अपने शासक के सब ओर स्वागतार्थ प्राप्त होओ ॥ ४ ॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥५॥

(त्वा प्रतिजनाः-ह्वयन्तु[1]) हे राजन् ! तुझे प्रतिपक्षी जन जिनके कारण तू छोड़कर चला गया था वे अपनाते हैं-स्वीकार करते हैं तथा (मित्राः-प्रति-अवृषत) तेरे पक्ष वाले प्रतिवरण-प्रतिरक्षा में रखते हैं (इन्द्राग्नी) सेनानी और ज्ञानी (विश्वेदेवाः) सारे जयशील सैनिक (ते विशि) तेरी प्रजा में (क्षेमम्-अदीधरन्) तेरे लिये कल्याण को स्थापित करते-सुख शान्ति स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥६॥

(इन्द्र) हे राजन् ! (यः-सजातः-च निष्ट्यः-ते हवं विवदत्) जो समान स्वभाव और जो भिन्न स्वभाव विरोधी जन तेरे घोष-ज्ञापन का विरोध करे (तम्-अपाञ्चं कृत्वा) उसे उपदेश-फटकार या दण्ड का भागी बनाकर (अथ-इमम्-इह-अवगमय) अनन्तर इसको-उसको यहाँ राष्ट्र में प्रजाजन में बोधित कर दे ॥ ६ ॥

---

१ "वमन्तु" पाठं मत्वाऽर्थोविहितः, नात्रसंगच्छते ।

चतुर्थ सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर रहने वाला)
देवता—इन्द्र (राजा)

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ्
विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज ।
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥१॥

(राजन्) हे राजन् ! (त्वा राष्ट्रम्-आगन्) तुझे राष्ट्र प्राप्त हुआ है (वर्चसा सह-उदिहि) तेज प्रताप के साथ उदय को प्राप्त हो-उठ (त्वं विशां प्राङ् पतिः-एकराट् विराज) तू प्रजाओं के सामने पालक अकेला राजमान प्रकाशमान हुआ विराजित हो (त्वा सर्वाः प्रदिशः -ह्वयन्तु) तुझे सारे राष्ट्र प्रदेशों में वर्तमान प्रजाऐं स्वीकार करें-अपनायें (इह) इस राष्ट्र में (उपसद्यः-नमस्यः-भव) शरण्य और आदरणीय हो ॥ १ ॥

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥२॥

(त्वाम्) हे राजन् ! तुझे (विशः) प्रजाएं (राज्याय वृणताम्) राजा होने के लिये वरें-स्वीकार करें-करती हैं (त्वाम्) तुझे (इमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः) ये पांचों सीमाऐं-सीमावर्त्ती अन्य राष्ट्र तथा इस प्रकार अपनी प्रजाऐं वरें (राष्ट्रस्य वर्ष्मन्-ककुदि श्रयस्व) राष्ट्र के सुख वर्षक उच्च स्थान राजासन पर विराज (ततः-नः-उग्रः-वसूनि विभज) पुनः हमारे लिये प्रतापी बन धनों को वितरण कर ॥ २ ॥

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै ।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥३॥

(सजाता:-हविन:-त्वा अच्छ यन्तु) हे राजन् ! समान देशवासी-तेरे प्रजाजन आज्ञाकारी तुझे प्राप्त रहें (अग्नि:-दूत:-अजिर: सं चरातै) अग्नि समान प्रतापी तेरा दूत प्रगतिशील हुआ देशदेशान्तर में सञ्चार करे (जाया:-पुत्रा:सुमनस:-भवन्तु) तेरे वश मे राष्ट्र मे स्त्रियां सन्तानें सुप्रसन्न मनवाली होवें (उग्र:-बहुं बलि पश्यासै) उन्नत बलवान् बहुत प्रकार के कर को स्वीकार कर ॥ ३ ॥

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥४॥

(त्वा) हे राजन् ! तुझ (अग्रे) राष्ट्र के अग्रासन पर राजपद पर विराजमान को (अश्विना) सूर्य चन्द्र समान राष्ट्र मे आप्त ज्ञान प्रकाश और शान्ति रूप धर्म संस्थापक गण (उभा-मित्रावरुणा) दोनों नीति में प्रेरक राजसभा और अपनी ओर आकर्षित करने वाली प्रजा के वर्ग (विश्वे-देवा:) राष्ट्र में विद्या मे प्रविष्ट विद्वान् तथा (त्वा) तुझे (मरुत:) सैनिक जन (ह्वयन्तु) स्वीकार करें-अपना राजा घोषित करे (अधा) अनन्तर (वसुदेयाय) धन धान्य सबको यथा योग्य देने के लिये (मन: कृणुष्व) मन को बना (तत:) पुन: (उग्र:-न:-वसूनि विभजा) प्रतापी बना हमारे लिये धनों को वितरण कर ॥ ४ ॥

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत् उपेदमेहि ॥५॥

(परमस्या:) परली दिशा सीमा से (परावत:) दूसरे देश से[1] (आ प्र द्रव) हे राजन् ! तू समन्त रूप से-निश्चिन्त खुलकर प्राप्त अपने राष्ट्र मे चला आ (ते) तेर लिये (उभे द्यावापृथिवी शिवे स्ताम्) दोनों भूमि और आकाश कल्याणकारी हो-होगे-हैं (तत्-अयं राजा वरुण:-तथा-आह) कारण

---

1 "परावत:-दूरनाम" [निघ० ३ । २६]

राजमान धर्मपति परमात्मा[1] या धर्मपति न्यायाधीश[2] धर्मव्यवस्था न्याय व्यवस्था से कहता है (सः-अयं-त्वा-अह्वत्) वह यह तुझे आमन्त्रित करता है (सः-इदम्-उप-आ-इहि) वह तू इस राष्ट्र को प्राप्त कर ॥ ५ ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान्
यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ॥६॥

(इन्द्रेन्द्र) हे राजाधिराज ! (वरुणैः संविदानः) धर्मराज-न्यायाधीश के द्वारा[3] संवित्-प्रतिज्ञापित हुआ-राजपद पर निर्धारित हुआ (समज्ञास्थाः-हि) सम्यक् घोषित हुआ (मनुष्याः परा-इहि) मनुष्य प्रजाओं को शासित कर (सः-अयं त्वा स्वे सधस्थे-अह्वत्) वह यह धर्माध्यक्ष-न्यायाधीश अपने राजसभासदन में आमन्त्रित या पूजित करता है[4] (सः-देवान् यक्षत्) वह तेरे राजसूय के लिये ऋत्विक् विद्वानों को यजनार्थ नियुक्त करता है उनसे राजसूय यज्ञ कराता है (सः-उ-विशः-कल्पयत्) वह निश्चय प्रजाओं को प्रजा धर्म में समर्थित करता है ॥ ६ ॥

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥७॥

(त्वा) हे राजन् ! तुझे (पथ्याः-रेवतीः) राजपथ पर चलने वाली धन धान्यवाली (बहुधा विरूपाः सर्वाः) बहुत प्रकार की भिन्न भिन्न रूपों वाली सारी प्रजाएं (सङ्गत्य) मिलकर (ते वरीयः-अक्रन्) तेरे लिये बहुत

---

१ "उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाउ" [ऋ० १.२४.८]
२ "वरुणाय धर्मस्य पतये" [मै० २ । ६ । ६]
३ "बहुवचनमादरार्थम्"
४ "ह्वयति-अर्चतिकर्मा" [निघ० ३ । १४]

भेंट को समर्पित करती है (ताः सर्वाः संविदानाः-ह्वयन्तु) वे सब संकल्प-प्रतिज्ञा बद्ध हुईं तुझे अर्चित करती हैं-करें (उग्रः) तू प्रतापी हुआ (इह) इस राष्ट्र में (सुमनाः) निश्चिन्त तथा पवित्र मनवाला हुआ (दशमीं वश) दशमी दिक्-दिशा पृथिवी को[1] स्वाधीन करके ॥ ७ ॥

पञ्चम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर)

देवता—सोमः पर्णमणिः (सोमओषधि रूप मणि)

आयमंगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥१॥

वक्तव्य—सोम ही पर्ण है "सोमो वै पर्णः" [श० ६ । ५ । १ । १] इसी सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में भी कहा है "सामस्य पर्णः" सोम का पर्ण-पत्ता पर्णमणि है । सोम एक बहुमूल्य ओषधि है उसे पास रखना, उसे चबाने खाने स्वरस पीने आदि में उपयोग करना यहाँ लक्ष्य है । अब मन्त्रार्थ करते हैं—

(अयम्) यह (बली) बलवान् बलवर्धक (पर्णमणिः) सोम पत्र रूप मणि (बलेन) बल प्रदान द्वारा (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) विनष्ट करने के हेतु[2] (आगन्) मेरे अन्दर तरङ्गों के रूप में आ जाता है जो (देवानाम्) आकाश के दिव्य पदार्थों का (ओजः) ओजः स्वरूप दिव्य तेज बल रूप है, तथा (ओषधीनां पयः) पृथिवी पर उगने वाली ओषधियों का

---

१ चतस्रो दिशो मुख्याः पूर्वाद्याः, चतस्रः उपदिशः कोणदिशः इत्यष्ट, ऊर्ध्वा नवमी, पृथिवी दशमी दिक् "इयंपृथिवी ध्रुवा" [काठ० १२ । २]

२ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" [अष्टा० ३ । २ । १२६]

सार है, वह (अप्रयावन्) न अलग होने वाला[1] मेरे अन्दर सात्म्य होने वाला (मा) मुझे (वर्चसा) प्रताप से (जिन्वतु) तृप्त करे-पूरण करे ॥ १ ॥

मयि॑ क्ष॒त्रं प॑र्णमणे॒ मयि॑ धारयताद् र॒यिम् ।
अ॒हं रा॒ष्ट्रस्या॑भीव॒र्गे नि॒जो भू॑यासमु॒त्तमः ॥२॥

(पर्णमणे) हे सोमपर्ण मणि ! तू (मयि) मेरे अन्दर ऐश्वर्य को (धारयतात्) धारण करा (अहम्) मैं (राष्ट्रस्य-अभिवर्गे) तेरे सेवन से राष्ट्र के मण्डल-प्रतिष्ठित जनसंसार में (उत्तमः-निजः-भूयासम्) श्रेष्ठ तथा उसका अपनाया हुआ हो जाऊं ॥ २ ॥

यं नि॑द॒धुर्व॑न॒स्पतौ॒ गुह्यं॑ दे॒वाः प्रि॒यं म॒णिम् ।
तम॒स्मभ्यं॑ स॒हायु॑षा दे॒वा द॑द॒तु भर्त॑वे ॥३॥

(देवाः) विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों ने (वनस्पतौ) वनस्पति वर्ग में (यं गुह्यं प्रियं मणिम्) जिस रहस्यमय प्रिय मणि को (निदधुः) रखा है (तम्) उसको (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आयुषा सह) आयु के साथ (देवाः) वे देव-दिव्य पदार्थ (भर्तवे) भरण-पोषण धारण करने के लिये (ददतु) देवें ॥ ३ ॥

सोम॑स्य प॒र्णः सह॑ उ॒ग्रमाग॒न्निन्द्रे॑ण द॒त्तो वरु॑णेन शि॒ष्टः ।
तं प्रि॑यासं ब॒हु रोच॑मानो दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ॥४॥

(सोमस्य पर्णः) सोम का पत्र (उग्रं सहः) उग्र बलस्वरूप है (इन्द्रेण दत्तः) सूर्य द्वारा दिया हुआ (वरुणेन शिष्टः) चन्द्रमा के द्वारा विशिष्ट गुण सम्पन्न किया हुआ (आगन्) प्राप्त हुआ है या प्राप्त है (तं बहुरोचमानः) उस बहुत रोचमान-रुचिकर को[2] (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय)

---

१ "या धातो वनिप्" "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" [अष्टा० ३।२।७४] पुनः सुविभक्तेर्लुक् "सुपांसुलुक्·····" [अष्टा० ७ । १ । ३७]

२ "सुपां सुलुक्······[अष्टा० ७ । १ । ३९] इति अम् स्थाने सु प्रत्ययः ।

सौ वर्ष के लिये दीर्घ जीवन पाने के लिए (प्रियासम्) पसन्द करता हूँ-अच्छा मानता हूँ, चाहता हूँ ॥ ४ ॥

आ मारुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥५॥

(पर्णमणिः) सोमपत्र रूपमणि (मह्यं) महतो (अरिष्टतातये) कल्याणकारिता के लिये (मा) मेरे प्रति (आरुक्षन्) आरोहण करे-बढ़े-बढ़-बढ कर प्राप्त हो (यथा) जिससे कि (अहम्) मैं (अर्यम्णः) शत्रुओं को नियन्त्रित स्ववश करने वाला[1] चक्रवर्ती राजा का (उत) तथा (संविदः) सम्यक् विदित प्रसिद्ध (उत्तरः) उत्कृष्टतर बढा-चढा यशस्वी प्रतापी (असानि) होऊं ॥ ५ ॥

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६॥

(ये) जो (धीवानः) धीमान् ब्राह्मण-इंजिनियर (रथकाराः) यान आदि यन्त्र बनाने वाले शिल्पी कलाकार (कर्माराः) कर्म करने वाले-श्रमिकजन (ये) जो (मनीषिणः) मनस्वी ऋषि मुनि योगी जन हैं (सर्वान्) उन सब को (पर्ण) हे सोमपत्रमणि ! (त्वम्) तू सेवन में आया हुआ मेरे अन्दर अद्भुत गुण लाकर (मह्यम्-उपस्तीन्-अभित -कृणु) मेरे लिये पास रहने वाले कर ॥ ६ ॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥७॥

---

१ "अर्यमा-अरीन् नियच्छति" [निरु० ११ । २२]

(ये) जो (राजकृतः-राजानः) राजा को बनाने वाले राजा लोग हैं (ये सूताः) जो मन्त्रीजन (च) और (ग्रामण्यः) ग्रामनेता मुख्य जन (उपस्तीन्) इन्हें मेरे पास रहने वाले कर ॥ ७ ॥

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥८॥

(मणे) हे सोमपत्र रूप मणि ! तू (मया वीरेण) मुझ वीर राजा के साथ (सयोनिः) समानाश्रयी-एकाङ्ग (वीरः) वीर स्वरूप-वीरताप्रद गुणों वाला (तनूपानः) शरीररक्षक (पर्णः) पत्र (असि) हो-बन[1] (तेन) तिसलिये-इसलिये (संवत्सरस्य तेन तेजसा) सूर्य के तेज से युक्त (त्वा बध्नामि) मैं पुरोहित तुझ मणि को बांधता हूं सुरक्षित रखता हूं ॥८॥

षष्ठ सूक्त

ऋषिः—जगद्बीज पुरुष. (परमात्मा)

देवता—अश्वत्थ. (घोडे पर चढा सैनिक)

पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥१॥

(पुंसः पुमान् परिजातः) पौरुष शक्तिमान् से पौरुषशक्तिमान् घोड़े पर परिशोभित प्रसिद्ध होता है (खदिरात्-अधि-अश्वत्थः) जैसे-खदिर-सारवान् के ऊपर पीपल सारवान् हुआ करता है[2] (सः-मामकान्-शत्रून्-हन्तु)

---

१ "लिङर्थे लेट्" [अष्टा० ३ । ४ । ७]

२ "लुप्तोपमावाचकालङ्कारः" "खदिरो दारूणां बहुसारः" [श० १३ । ४ । ४ । ९]

वह पौरुष शक्तिमान् मेरे शत्रुओं को नष्ट करे (यान्-अहं द्वेष्मि ये च माम्) जिनके प्रति मैं द्वेष करता हूं और जो मेरे प्रति द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाध दोधतः ।

इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥२॥

(अश्वत्थ) सारवान् खदिर पर खडे पीपल के समान-घोड़े पर चढ़े वीर पुरुष तू (तान्) उन (वैबाध दोधतः) विविध बाधा पीड़ा पहुंचाना कार्य जिनका है, ऐसे क्रोध करते हुए[1] (शत्रून्) शत्रुओं को (निःशृणीहि) निःशेष नष्ट कर (वृत्रघ्ना-इन्द्रेण) शत्रुनाशक वैद्युतास्त्रधारी द्वारा (मित्रेण) वायव्यास्त्रवान्[2] के साथ (वरुणेन) वारुणास्त्रवान् के साथ (च) और (मेदी) स्नेही बना हुआ ॥ २ ॥

यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे ।

एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥३॥

(यथा) जिस प्रकार (अश्वत्थ) हे अश्व पर स्थित वीर ! तू (महति-अर्णवे-अन्तः-निरभन्) महान् प्राण-प्राणवान्[3]-प्राणी समुदाय में प्रविष्ट होकर उसे ललकारता है[4] (एव) ऐसे ही (तान् सर्वान् निर्भङ्ग्धि) उन शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करदे शेष पूर्ववत् ॥ ३ ॥

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।

तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्साहिषीमहि ॥४॥

---

१ "दोधति क्रुध्यतिकर्मा" [निघ० २ । १२]

२ "अयं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते" [श० ६ । ५ । ४ । १४]

३ "प्राणो वा अर्णवः" [श० ७ । ५ । २ । १५]

४ "भण भाषार्थः" [भ्वादि०] मतुब्लोपश्छान्दसः ।

(अश्वत्थ) हे अश्व पर स्थित-घुड़सवार सैनिक वीर ! (सासहानः-ऋषभः-इव) अन्यों को बहुत दबाते हुए साण्ड के समान (सहमानः-चरसि) शत्रुओं को सहने-अपने बल के अधीन करता हुआ विचरता है (तेन त्वया) उस तेरे साथ (वयं सपत्नान् सहिषीमहि) हम शत्रुओं को सह सकें-स्वाधीन कर सकें दबा सके, दबा सकते हैं ॥ ४ ॥

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥५॥

(अश्वत्थ) हे घुड़सवार सैनिक (एनान् मामकान् शत्रून्) इन मेरे शत्रुओं (यान्-अहं द्वेष्मि ये च माम्) जिनके प्रति मे द्वेष करता हूँ और जो मेरे प्रति द्वेष करते हैं उन्हें (निर्ऋतिः) पापरूप कृच्छ्रापत्ति (मृत्योः पाशैः-अमोक्यैः सिनातु) मृत्यु के न छूटने वाले पाशों बन्धनों से बान्ध दे बान्धती है ॥ ५ ॥

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्द्धि सहस्व च ॥६॥

(अश्वत्थ) हे अश्व पर स्थित वीर सैनिक ! तू (यथा) जिस प्रकार :(वानस्पत्यान्-आरोहन्) प्राणो[1] से प्रसिद्ध-प्राणों से युक्त-प्रबल प्राण वाले शक्तिशाली जनों पर आरोहण करता हुआ (अधरान्-कृणुषे) उन्हें नीचे करता है प्रभावित करता है (एवा) ऐसे ही (मे शत्रोः-मूर्धानम्) मेरे शत्रु के मूर्धा को (विष्वक्-भिन्धि) सब ओर से भेदन कर (च) और (सहस्व) उसको स्वाधीन कर ॥ ६ ॥

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्त्तनम् ॥७॥

---

१ "प्राणो हि वनस्पति." [ऐ० २ । ४]

(ते-अधराञ्चः) वे नीचे ताड़े हुए शत्रुजन (प्रप्लवन्ताम्) बह जावें (बन्धनात् छिन्ना नौः-इव) रस्से या श्रङ्खला बन्धन से अलग हुई नौका के समान (वैबाध प्रणुतानाम्) विविध बाधक-शत्रु प्रहारो से प्रहृतों-ताडितों का (पुनः-निवर्तनं न-अस्ते) पुन. लौटना नही होता है ॥ ७ ॥

प्रैणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।
प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥८॥

(एनान्) इन शत्रुओं को (मनसा प्र-नुदे) मन से मनोबल मनन से फटकारता हूँ (चित्तेन प्र०) चित्त बल से चिन्तन से-विचार से फटकारता हूँ (ब्रह्मणा) महती-बुद्धि-या अहङ्कार से फटकारता हूँ न केवल बाहिरी साधन से (एनान्) इन शत्रुओं को (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया नुदामहे) पीपल वृक्ष की शाखा वाण लग्न से या छेदन करने वाले[1] घोड़े पर स्थित वीर सैनिक की शक्ति[2] अस्त्र के प्रहार से ताड़ित करते हैं ॥ ८ ॥

सप्तम सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (तेजस्वी प्राणवान्)

देवता—१-३ हरिणः, ४ विचृतौ तारके, ५ आपः ६-७ यक्ष्मनाशनम् ॥

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥१॥

(रघुष्यदः) तीव्रगति वाले (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि-अधि) शिर में (भेषजम्) औषध है 'सींग' है (सः) वह हरिण (विषाणया)

---

१ "वृक्षो वृश्चनात्" [निरु० २ । ६]
२ "शाखा शक्नोते" [निरु० ६ । ३२]

सींग से (विषूचीनं क्षेत्रियम्) फैलने वाले या विशेष शूल पीड़ा प्रद माता पिता से जन्म से आए रोग को (अनीनशत्) नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षत्रियं हृदि ॥२॥

(विषाणे) हे सीग-हरिण के सीग (त्वा-अनु) तेरे साथ तेरे गुणों के अनुसार (वृषा हरिणः) बलवान् हरिण (चतुर्भिः-पद्भिः) चार पैरों से (अक्रमीत्) दौड़ता है, अतः (अस्य) इस रोगी के (हृदि) हृदय में (यत्) जो (क्षेत्रियम्) माता, पिता या जन्म से प्राप्त रोग (गुष्पितम्) गुम्फित-ग्रन्थित-जमा बैठा है उसे (विष्य) विनष्ट कर ॥ २ ॥

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः ।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥३॥

(अदः) वह (यत्) जो (छदिः) छत के समान हरिण (चतुष्पक्षम्-इव) चारों पक्षो-चारों कोणों-चारो रंगो से युक्त (अवरोचते) नीचे पृथिवी पर खड़ा अच्छा लगता है (तेन) उससे-उसके सींग के द्वारा (ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अङ्गो से (सर्वं क्षेत्रियम्) सब क्षेत्रिय रोग को (नाशयामसि) हम नष्ट करते है ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥४॥

(दिवि) द्युलोक में-आकाश में (अमू ये) वे जो (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य के सम्पादक (नाम) स्पष्ट-प्रत्यक्ष (विचृतौ तारके) विशेष ग्रन्थित-पिण्डरूप[1] सूर्य चन्द्र ग्रह हैं, वे दोनों (क्षेत्रियस्य) क्षेत्रियरोग के (अधमं-पाशम्) कठिन कष्ट बन्धन को (विमुञ्चताम्) छुड़ावें ॥ ४ ॥

---

१ "चृती हिंसाग्रन्थनयोः" [तुदादि०]

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥५॥

(आपः) बहते हुए वृष्टि जल तथा फैलते हुए भाप जल (इत्-वै-उ) अवश्य ही (भेषजीः) औषधरूप हैं (आपः) वे जल (अमीवचातनीः) रोगों को नष्ट करने वाले हैं (आपः) वे जल (विश्वस्य भेषजीः) समस्त रोग का औषध है (ताः) वे जल (त्वा) हे रोगी ! तुझे (क्षेत्रियात्) क्षेत्रियरोग से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ५ ॥

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे ।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥६॥

(आसुतेः क्रियमाणायाः) प्रसूति की जाति हुई का-प्रसव बेला का (यत्) जो (क्षेत्रियम्) क्षेत्रियरोग (त्वा) हे रोगी ! तुझे (व्यानशे) तुझे व्याप्त हो गया है (तस्य) उसका (भेषजम्) औषध (अहम्) मैं (वेद) जानता हूं (त्वत्) तुझ से (क्षेत्रियं नाशयामसि) क्षेत्रिय रोग हम नष्ट करते हैं ॥ ६ ॥

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥७॥

(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) समाप्त हो जाने पर-छिप जाने पर (उत) तथा (उषसाम्) उषाओं के-उषा के (अपसवासे) समाप्त काल में (अस्मत्) अस्मात्[1] इस रोग (अपोच्छतु) दूर होवे (उत) तथा (क्षेत्रियम्) क्षेत्रियरोग (आपोच्छतु) दूर होवे ॥ ७ ॥

मातापिता से आये जन्म के हृदय रोग तथा अन्य प्रसव रोग, कुष्ठ अर्श-बवासीर, वातरोग-गठिया आदि को बारहसिंगे के सींग-उसके स्पर्श, लेप,

---

१ ह्रस्वश्छान्दसः ।

पान, भस्म से[1] तथा सूर्यताप, चान्द की चान्दनी में बैठने, रात्रि के अन्तिम भाग, उषा बेला में बैठने, भ्रमण आदि से दूर हो जाते है ॥

अष्टम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर-अडिग)

देवता—१-४ मित्रादयो विश्वे देवाः, ५-६ मनः ।

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः ।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥१॥

(मित्रः) मृति-मृत्यु से त्राण करने वाला सूर्य[2] (पृथिवीम्) पृथिवी को (उस्रियाभिः संवेशयन्) किरणों से पूरित करता हुआ (ऋतुभिः कल्पमानः) बसन्त आदि ऋतुओं से समर्थ बनाने के हेतु (आयातु) आवे-प्राप्त होवे-होता है (अथ) अनन्तर (वरुणः-वायुः-अग्निः) आकाशीय-आकाश में फैलने वाला जल वायु और अग्नि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (संवेश्यं बृहत्-राष्ट्रं दधातु) वसने योग्य महान् राष्ट्र-भूभाग सम्पादित करे ।

सूर्य द्वारा पृथिवी पर ऋतुसंचार तथा उसके चारों ओर आकाश में सूक्ष्म जल बरसने योग्य, वायु अग्नि का प्रादुर्भाव भी मानवो के जीवन हेतु प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥२॥

---

१ "दग्धमनिर्गतधूमंमृगशृङ्गं । गोघृतेन सह लीढम् । हृदयनितम्बशूलं हरति शिखीदारु निहवामिव" [भैषज्यरत्नावली शूलरोगाधिकार ५४]

२ "मित्रः प्रमितेस्त्रायते" [निरु० १० । २१]

"मित्रो दाधार पृथिवीमुतद्याम्" [ऋ० ३ । ५९ । १]

(धाता) पुरोहित[1] (रातिः) दानाध्यक्ष (सविता) प्रेरक निजमन्त्री (इदं जुषन्ताम्) इस राष्ट्र को मेरे साथ सेवन करें (इन्द्रः) इस पृथिवी को दीर्ण करने वाला कृषक[2] (त्वष्टा) पशुरक्षक[3] (मे वचः प्रतिहर्यन्तु) ये तथा वे सब मेरे आदेश को चाहें-स्वीकार करें (अदिति देवीं शूरपुत्रां हुवे) शूर पुत्रों वाली राष्ट्र भूमि[4] देवी को अपनाता हूँ-उसे उपयोगी बनाता हूँ (यथा) जिससे (सजातानां मध्यमेष्ठा-असामि) समान शासकों में समान वंश वालों के मध्य में होने वाले प्रतापी यशस्वियों की श्रेणि में मैं हो जाऊं ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥३॥

(अहम्) मैं राष्ट्रपति (सोमं सवितारं नमोभिः-हुवे) शान्तस्वरूप ब्राह्मण ऋषि को[5] तथा राष्ट्रकल्याणार्थ राष्ट्रचालक सचिव को[6] अन्नादि विविध उपहारो द्वारा सत्कृत करता हूँ[7] (विश्वान्-आदित्यान्-उत्तरत्वे) समस्त-इस अदिनि-पृथिवी राष्ट्र भूमि के वासियों के ऊपर शासकरूप विराजमान होने के लिये राजपद पर विराजमान होता हूं (अप्रतिब्रुवद्भिः सजातैः) समानवंशीय प्रतिवाद न करने वाले-अप्रतिकूल बोलने वालों-अनुकूल बोलने वालों के साथ (इद्धः) प्रतापवान् (अयम्-अग्निः) यह राजसूयकी अग्नि (दीर्घम्-एव दीदयत्) दीर्घकाल तक प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

---

१ "पुरोहित-पुरोदधाति" धाता क्षत्राय जुहोतु [तै० सं० ३ । ३ । १० । १]
२ "इन्द्रं वयं शुनासीरमस्मिन् यज्ञे हवामहे" [काठ० २१ । १४]
३ "त्वष्टा वै पशूनामीष्टे" [श० ३ । ७ । ३ । ११]
४ "अदितिः पृथिवी" [निघ० १ । १]
५ "सोमो वै ब्राह्मणः" [काठ ११ । ५]
६ "यद्धि कल्याणं तस्मै सविता प्रसवति" [काठक सं० ४९ । १]
७ "ह्वयति-अर्चति कर्मा" [निघ० ३ । १४]

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥४॥

(इह-इत्-असाथ) हे प्रजाओं ! तुम इस ही राष्ट्र में सुख से रहो (न परः-गमाथ) राष्ट्र से बाहर न जाओ (अयंः-गोपाः पुष्टपतिः) अन्नाधिकारी[1] गोरक्षक पोष का अधिकारी (वः-आजत्) तुम्हें प्राप्त है[2] (वः कामिनीः) तुम सुख की कामना करने वालियों को (अस्मै कामाय) इस समस्त राष्ट्र या प्रजागण की कामनापूर्त्ति के लिये (विश्वेदेवाः-उपसंयन्तु) सारे राष्ट्राधिकारी विद्वान् उपलब्ध है ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥५॥

(वः-मनांसि संनमामसि) हे प्रजाजनों ! तुम्हारे मनों को एकता में ढालता हूँ (व्रता सम्०) तुम्हारे कर्मों को एकता में ढालता हूँ (आकूतीः सम्०) तुम्हारी अहमन्यताओं को एकता में ढालता हूँ (ये-अमी विव्रताः-स्थन) जो वे तुम विविध कर्मशक्ति वाले हो (तान् वः-संनमयामसि) उन तुमको अपनी कर्मशक्ति में ढालता हूँ ॥ ५ ॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥६॥

(अह मनांसि मनसा गृभ्णाभि) हे प्रजाजनो मै तुम्हारे मनों को अपने मन से ग्रहण करता हूँ-तुम्हारे मनो भावों को अपने मन से अपनाता हूँ-पूर्ण करता हूँ-करूंगा (मम चित्तम्-अनुचित्तेभिः-एत) मेरे चित्त-चिन्तन साधन के अनुसार अपने चित्तों से चलो (वः-हृदयानि) तुम्हारे हृदय-

---

१ "इरा-अन्ननाम" [निघ० २ । ७]
२ "अज गतिक्षेपणयो." [भ्वादि०]

हार्दिक अभिकाक्षायें (मम वशेषु कृणोमि) मेरे-अपने वशों में-अधिकारों में करता हूँ (मम यांतं वर्त्मानिः-एत) मेरे चलने को लक्ष्य बनाकर यात्री बनकर चलो ॥ ६ ॥

नवम सूक्त

ऋषिः—वामदेवः (वननीय देव जिसका है ऐसा आस्तिक)

देवता—द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः ।

कर्शफस्य विशफस्य द्यौष्पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथापं कृणुता पुनः ॥१॥

(देवाः) हे विद्वानो ! (कर्शफस्य विशफस्य) कर-हाथरूप[1] खुर वाला प्राणी रीछ, व्याघ्र, भेड़िया आदि का (विशफस्य) विशेष शफ खुर जिसका है[2] गौ घोड़ा ऊंट हाथी आदि पशु का (द्यौः-पिता) सूर्यपिता-पालक (पृथिवी माता) पृथिवी आश्रय दात्री जननी है (यथा) जैसे (अभिचक्र) इनको उत्पन्न करे (तथा) वैसे (पुनः- अप कृणुत) फिर तुम यथा योग्य व्यवहार द्वारा अपने को उनसे बचाओं या स्वाधीन करो ॥ १ ॥

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥२॥

(अश्रेष्माणः) अनासक्त-रागद्वेषरहित जन (अधारयन्) उन वन्य और ग्राम्य पशुओं को धारण करते है उपयुक्त बनाते है (तथा) वैसे ही (मनुना तत् कृतम्) सर्वज्ञ परमात्मा ने उनका रचन किया है तब (वध्रिकृणोमि) बन्धन योग्य करता हूँ स्वाधीन करता हूँ रस्सी नकेल

---

१ "अस्मदा द्वयोश्च" [अष्टा० १ । २ । ५९]

२ "अकारलोपश्छान्दसः ।

शृङ्खला आदि द्वारा (गवां विष्कन्धम्-इव) गौओं में विशेष कन्धे वाले बल की भांति, जैसे (मुष्काबर्हः) अण्डकोश कुचला गया जैसा उसे कर देते है स्वाधीन करलेते हैं ॥ २ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥३॥

(वेधसः) मेधावी जन[1] (पिशङ्गे सूत्रे) मांसल मूत्र-तान्त के रस्से में (खृगलम्) खनन करने के लोह को भी गला लेता-पचा लेता है उस ऐसे गेण्डे को भी (बध्नन्ति) बाँध लेते (तदा) तब फिर (बन्धुरः) बान्धने वाले[2] (श्रवस्युं शुष्मं काववम्) प्रसिद्ध शोषक वा बलवान्[3] कबरे वर्ण वाले सर्प को (बध्रि कृण्वन्तु) बन्धन योग्य करते है ॥ ३ ॥

येना श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया ।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥४॥

(येन) जिस व्यवहार से (श्रवस्यः- चरथ) अन्न चाहने वाले तुम लोग विचरते हो (असुरमायया) प्राणप्रद परमात्मा की बुद्धि कुशलता से देवों के समान (शुनां कपिः-इव दूषणः) कुत्तों का दूषण करने वाला-घुड़कनेवाला बन्दर जैसे (कावत्रस्य च वन्धुरा) और कबरे सर्प के बान्धने वाले भी ऐसे ही विचरते हे ॥ ४ ॥

दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥५॥

हे दुष्ट प्रवृत्तिवाले (काबवं त्वा) कबरे सांप ने जैसे तुझको (दुष्ट्यै हि) दुष्टता के कारण (भत्स्यामि) बांधूगा (दूषयिष्यामि)

---

१ "वेधाः मेधाविनाम" [निघ० ३ । १५]
२ अम् स्थाने सुः ।
३ "शुष्मं बलनाम" [निघ० २ । ९] मतुब्लोपश्छान्दसः ।

उद्हराऊंगा (रथा:-आशव:-इव) रथस्थ-रथमें बन्धे घोड़ों की भांति (शपथेभि:) फट्कार वचनों के द्वारा (उत्-सरिष्यथ) यथावत् मार्ग में चलोगे ।

दुष्ट मनुष्य विनाफट्कार और बन्धन के सर्पवृत्ति न छोड़ेंगे, उन्हें फटकारों तथा रथ में बन्धे घोड़ों के समान ठीक मार्ग पर चलाना चाहिए ॥ ५ ॥

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।

तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥६॥

(पृथिवीम्-अनु) राष्ट्रभूमि पर (एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता) एक-अकेले प्रजापालक राजा[1] के सौ-सैकड़ों कन्धों से विगत करने वाले-निर्वीर्य करने वाले दुष्ट जन विराजमान हैं (तेषाम्-अग्रे) उनके-उनके सामने उठने वाले (त्वां विष्कन्धदूषणं मणिम्-उज्जहरुः) कन्धे तोड़ने वालों को निर्बल करने वाले तुझ शिरोमणि राजा को प्रजाएें ऊपर उठाती हैं शिरोधार्य करती हैं ॥ ६ ॥

दशम सूक्त

ऋषि:—अथर्वा (स्थिर जन)

देवता—अष्टका (प्रलयानन्तर सृष्टि)

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे ।

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥१॥

---

१ "प्रजापतिर्वा एक:" [तै० ३ । ८ । १६ । १]

(यमे) संसार मार्ग में[1] (प्रथमा ह व्युवास) वह प्रथम· सर्व प्रथम- प्रमुख एकाष्टा[2] प्रथमा व्यापने वाली महा प्रलयानन्तर रात्रि[3] रात्रिरूप उषा-उषा-दिन का पूर्वरूप-कल्पारम्भ बेला[4] उदित हुई-विशेष रूप फैली-विकसित हुई (सा धेनुः-अभवत्) वह तृप्त करने वाली या सुषुप्ति में पड़े जीवों को जागृत करने वाली धेनु-दुधारी गौ के समान प्रकट हुई (सा) वह (नः) हमारे लिए (उत्तराम्-उत्तरां समाम्) आगे प्रातर्वेला अवसर पर[5] (पयस्वती दुहाम्) प्राणवती प्राणों को दुहती[6] रहे ॥ १ ॥

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥२॥

(देवाः) विद्वान् जन (याम्-उपायतीं रात्रिं धेनुं प्रति नन्दन्ति) जिस उपगत होती हुई-जीवन में उपयुक्त होती हुई प्रतिदिन रमणीया जीवन दात्री प्रातर्वेला रूप तृप्ति को प्रशंसित करते हैं-पसन्द करते हैं (या संवत्सरस्य पत्नी) जो आगे प्रवर्तमान विश्वकाल-या काल की पत्नी-काल सन्तति घड़ी, प्रहर, दिन, पक्ष, मास ऋतुओं की प्रकट करने वाली है (सा नः सुमङ्गली-अस्तु) वह हमारे लिये सुमङ्गल उत्तम कल्याण वाली हो ॥२॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥३॥

---

१ "यमः पन्थाः" [तै० २ । ५ । ७ । ३]
२ "एकाष्टके" [अथर्व० ३ । १० । ५]
३ "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततोरात्र्यजायत" ।
४ "प्राजापत्यमेतदहर्यदष्टकाः" [श० ६ । २ । २ । २३]
५ "समाभिरेवाग्निः ऋतून् वर्धयति [काठ २० । १]
६ "प्राणः पयः" [श० ६ । ५ । ४ । १५]

(रात्रिः) हे रात्रिः-प्रातर्बेला ! तू (संवत्सरस्य प्रतिमा) संवत्सर-विश्वकाल एवं वर्ष की प्रतिमान कराने वाली-प्रति बोधका या आधाररूपा है (यां त्वा-उपास्महे) जिस तुझ को हम सेवन करें-जीवन में चरितार्थ करें-ब्रह्मयज्ञ-जीवनयज्ञ का अनुष्ठान करें[1] (सा नः-आयुष्मतीं प्रजाम्) वह तू हमारी आयु वाली प्रजा-सन्तति करती हुई (रायः-पोषेण संसृज) धनैश्वर्य भोगादि के पोष-लाभ से संसृष्ट-संयुक्त कर ॥ ३ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥४॥

(इयम्-एव) यह ही (सा प्रथमा व्यौच्छत्) यह प्रथम सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट हुई उषा-प्रातर्बेला है (आसु-इतरासु प्रविष्टा चरति) अन्य उषाओं-प्रातर्वेलाओं में मानों प्रविष्ट हुई आ रही है (अस्याम्-अन्तः) इसमें-इसके अन्दर (महान्तः-महिमानः) बड़े महिमा वाले दिव्य पदार्थ या गुण है (नवगत्-जनित्री वधूः-जिगाय) नवीन प्राप्त हुई जननी वधू की भांति प्रभाव डाल रही है ॥ ४ ॥

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥५॥

(एकाष्टके) हे प्रथम संख्या वाली आदि सृष्टि वाली रात्रि रूप उषा बेला ! तुझे लक्ष्यकर (वानस्पत्याः-ग्रावाणः) आरम्भ सृष्टि में प्राणो से युक्त[2] विद्वान् वैदिक ऋषि[3] (परिवत्सरीणम् हविः-कृण्वन्तः-वयम्) सूर्य सम्बन्धी[4]

---

१ "सवत्सरस्य प्रतिमा यां त्वा रात्रि यजामहे" [२ । २ । १८]

२ "प्राणो वै वनस्पतिः" [ऐ० २ । ४]

३ "विद्वांसो हि ग्रावाणः" [श० ३ । ९ । ३ । १४]

४ "सूर्यः परिवत्सरः" [तां० १४ । १३ । १७] "वत्सरान्तश्छन्दसिसंपरिपूर्वात् ख च" [अष्टा० ५ । १ । ९१] इतिख प्रत्ययः ।

मास एव वर्ष को[1] सेवन करते हुए हम (सुप्रजसः सुवीराः) उत्तम प्रजनन शक्ति वाले, उत्तम पुत्रों वाले[2] तथा (रयीणां पतयः स्याम) धनैश्वर्यों के स्वामी होवें ॥ ५ ॥

पुनश्च—

इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥६॥

(जातवेदः) उत्पन्न होते ही जानने योग्य प्रसिद्ध अग्नि ! तू (इडायाः-पदम्) पृथिवी[3] के प्राप्तव्य या प्राप्त स्थान को (घृतवत्) जलवाले[4] (सरीसृपम्) पुनः पुनः हल द्वारा तैयार किये जाने वाले (हव्या प्रति) हव्यों को लक्ष्य कर-ओषधि वनस्पतियों को लक्ष्यकर (गृभाय) ग्रहण करा (ये ग्राम्याः पशवः-विश्वरूपाः) जो सब रूपों वाले ग्रामीण गौ आदि पशु हैं (तेषां सप्तानाम्) उन सातों या आने वालों की (रन्तिः) रमणीयता-सुखलाभ (मयि) मेरे निमित्त (अस्तु) हो ॥ ६ ॥

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥७॥

(रात्रि) हे रात्रि-उषो वेला ! (मा) मुझे (पुष्टे च पोषे च आ) पुष्ट-पक्व-पोष-पोषणीय, सम्प्रति प्राप्त कृषि के पक्व फल और भविष्य में पकने

---

१ "मासा हवींषि" [श० ११ । २ । ७ । ३] "वर्षं हविः [गो० १ । १ । ३२]
२ "पुत्रो वै वीरः" [श० ३ । ३ । १ । १२]
३ "इडा पृथिवीनाम" [निघ० १ । १]
४ "घृतमुदकनाम [निघ० १ । १२]

पकाने योग्य कृषिफल के निमित्त 'आगच्छ' आ प्राप्त हो[1] (देवानां सुमती स्याम) हम वैदिक विद्वानों की कल्याणकारी मति में चलें (दर्वे) हे अन्धेरे को दीर्ण करने वाली उषोवेला ! तू (पूर्णा परापत) पूर्ण दिन का रूप धारण करके आगे बढ़ (पुनः) अगले दिन (सुपूर्णा) सुपुष्ट हुई (आपत) प्राप्त हो इस प्रकार (सर्वान् यज्ञान्) सारे यजनीय सङ्गमनीय प्राप्तव्य कर्म फलों को (भुञ्जती) भोग कराने हेतु हुई-बनी (नः) हमारे लिये (इषम्-ऊर्जम्-आ भर) अन्न रस को आभरित कर ॥ ७ ॥

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥८॥

(एकाष्टके) हे प्रथमा व्यापने वाली उषो वेला ! (तव पतिः) तेरा पतिरूप (अयं संवत्सरः-आगन्) विश्वकाल या वर्षकाल आ गया-आ जाता है तेरे प्रादुर्भुत होने के साथ ही वर्तमान हो जाता है-तेरे द्वारा क्षण घड़ी मुहूर्त प्रहर दिन पक्ष मास ऋतुओं को उत्पन्न करने वाला (सा) वह तू (रायः-पोषेण) धनैश्वर्य भोग के पोष सहित (नः प्रजाम्-आयुष्मती संसृज) हमें आयुवाली-दीर्घ जीवन वाली सन्तति को सम्प्राप्त करा ॥ ८ ॥

ऋतून् यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥९॥

(भूतस्य पतये यजे) उत्पन्न जगत् के पति परमात्मा मैं अपने को समर्पित करता हूं अध्यात्म याजक-आत्मयाजी बनूं, तदर्थ जगत् में उसके निर्मित (ऋतून्) ऋतुओं को (ऋतुपतीन्) सूर्य वायु पृथिवी को (आर्तवान्) ऋतु विभाग दो दो मासों को (हायनान्) धान्यों को पकाकर छोड़ने वाले षड् मासात्मकों (समाः) चान्द्रवर्षों गत विभाग पक्षों को

---

१ "उपसर्गाद् योग्य क्रियाध्याहारः" ।

(संवत्सरान्) सूर्यप्रमित वर्षों (मासान्) मासों को (यजे) मैं यजन करता हूं-प्रत्येक काल सन्धि पर अध्यात्म यजन चलाता हूं ॥ ९ ॥

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥१०॥

(त्वा) तुझे लक्ष्यकर (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये (आर्तवेभ्यः) ऋतु भागों दो-दो मासों के लिये (माद्भ्यः) मासार्द्ध मासों के लिये (संवत्सरेभ्यः) वर्षों के लिये (धात्रे) धारण करने वाले (विधात्रे) उत्पन्न करने वाले (समृधे) संहार करने वाले (भूतस्य पतये यजे) जगत् के स्वामी के लिये यजन करता हूं ॥ १० ॥

इडया जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे ।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥११॥

(वयं जुह्वतः) हम होम करते हुए (घृतवता-इडया देवान् यजे) घृत वाले पाक यज्ञ[1] मिष्ट आदि पके पदार्थ द्वारा यजन करें (वयम्) हम (अलुभ्यतः-गोमतः-गृहान्) लोभ प्रसङ्ग न रहे ऐसे सर्व सुख पूर्ण प्रशस्त गौओं वाले घरो में (समुपविशेम) भली भांति प्रवेश करें-रहें ॥ ११ ॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यषहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

(एकाष्टका) सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथमा उषा (तपसा तप्यमाना) संवत्सर के[2] लक्ष्य से-संवत्सर को पूरा करने के हेतु तपती हुई-चमकती हुई ने (महिमानम्-इन्द्रं गर्भं जजान) महान् सूर्य को[3] गर्भ रूप में उत्पन्न किया

---

१ "इडा खलु वै पाक यज्ञः" [तै० सं० १ । ७ । १ । १]

२ "संवत्सरो वाव तपः" [श० ८ । ४ । १ । १४]

३ "असौ वा आदित्य इन्द्रः" [काठ० १३ । ७]

(तेन देवाः शत्रून् व्यसहन्त) उसी सूर्य द्वारा देवों ने शत्रुओं को सहन किया-जीता, अन्धकार रोगादि को वश मे किया, कारण कि (शचीपतिः) वह कर्म शक्ति का स्वामी सूर्य (दस्यूनां हन्ता-अभवत्) क्षीण करने वाले पदार्थों का नष्ट कर्त्ता-नाशक है ॥ १२ ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥१३॥

(इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे) हे सूर्य पुत्र वाली तथा चन्द्र पुत्र वाली ! दिन के प्रारम्भ में सूर्यपुत्र रूप मे है और रात्रि के अन्त में चन्द्र पुत्र है जिसका ऐसी उषोबेला ! तू (प्रजापतेः-दुहिता-असि) प्रजापति परमात्मा के द्वारा प्रकट की गई है (अस्माकं कामान् पूरय) हमारी कामनाओं को पूरा कर (नः) हमारी (हविः) यज्ञ को-ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ को (प्रतिगृह्णाहि) स्वीकार कर-अनुकूल बना ॥ १३ ॥

एकादश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च (मनस्वी और-तेजस्वी प्राणवान्)

देवता—इन्द्राग्न्यायुषो यक्ष्मनाशनश्च (वायु, अग्नि, दीर्घायु, यक्ष्म नष्ट करना)

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥१॥

(त्वा) हे रोगी ! तुझे (अज्ञातयक्ष्मात्) अज्ञात रोग से (उत) अपि और (राजयक्ष्मात्) राजयक्ष्म-क्षयरोग से (जीवनायकम्) जीवित रहने के लिये[1] (हविषा) होम द्वारा (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ (यदि-एनम्)

---

१ "पदपूरणः"।

यदि इस रोगी को (ग्राहि:) अङ्गों एव मन को पकड़ने-जकड़ने वाली व्याधि ने (एतत्-एनं-जग्राह) इसे पकड़ लिया है (तस्याः) उससे (इन्द्राग्नी) हे वायु और अग्नि तुम दोनों (एनं प्रमुमुक्तम्) छुड़ा दो ।। १ ।।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥२॥

(यदि क्षितायुः) यदि क्षीण आयु वाला-जरा को प्राप्त (वा) या (परेतः) जीवन से निराश (यदि मृत्योः-अन्तिकं नीतः-एव) यदि मृत्यु के निकट पहुंचा हुआ ही अर्थात् मरणासन्न हो तो (तम्-निर्ऋतेः-उपस्थात्-आहरामि) उसको निर्ऋतिः-घोर आपत्ति या मृत्यु की गोद से हटा ले आता हूँ बचा लेता हूँ (शतशारदाय) सौ वर्षों वाले जीवन के लिए या बहुत वर्षों वाले जीवन के लिये (एनम्-अस्पार्षम्) इसको मैं स्पर्श करता हूँ प्रबल हाथों में लेता हूँ अर्थात् इसकी सफल चिकित्सा करता हूँ ।। २ ।।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥३॥

(सहस्राक्षेण) बहुत व्यापने वाले (शतवीर्येण) अत्यन्त शक्ति वाले (शतायुषा) सौवर्ष आयु तक ले जाने वाले (हविषा) होम द्वारा (एनम्) इसको (आहार्षम्) मैं बचालाया हूँ (यथा) जिस प्रकार (इन्द्रः) वायु या विद्युत् (एनम्) इसको (विश्वस्य-दुरितस्य) सब रोग के (पारम्) पार-परे (शरदः) जीवन के वर्षों को-सर्व आयु को (अतिनयाति) भली भांति[1] ले जाता है ।। ३ ।।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता
बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥४॥

---

१ "अति पूजायाञ्च" [अष्टा० १ । ४ । ९४]

(शतंशरदः) सौ शरदियों तक (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक (शतं वसन्तान्) सौ वसन्त ऋतुओं तक (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (जीव) जीवित रह (ते) हे रोगी ! तेरे (शतम्) सौ वर्ष आयु को (इन्द्रः) विद्युत् (अग्निः) अग्नि (सविता) सूर्य (बृहस्पतिः) वायु प्रदान करे (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने वाले (हविषा) होम से (एनम्) इसको (आहार्षम्) बचा ले आता हूँ ॥ ४ ॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्य१॒न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥५॥

(प्राणापानौ) हे श्वास प्रश्वास शक्तिरूप प्राण अपान तुम दोनों ! (प्रविशतम्) शरीर में प्रविष्ट होओ-बने रहो (अनड्वाहौ-इव व्रजम्) जैसे दो बैल गोस्थान में रहते है (अन्ये मृत्यवः-वियन्तु) अन्य अन्यथा प्रकार के मृत्यु इससे दूर रहे (यान्-इतरान् शतम्-आहुः) जिन अन्य मृत्युओं को सैकड़ों कहते हैं ॥ ५ ॥

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥६॥

(प्राणापानौ युवम्) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (इह एव स्तम्) यही बने रहो (इतः-मा-अपगातम्) यहाँ मे मत निकलो (अस्य) इस रोग मुक्त के (शरीरम्-अङ्गानि) शरीर तथा शरीरस्थ नेत्र आदि अङ्गों को (जरसे) जरावस्थस्था के लिये-जरावस्था तक (पुनः-वहतम्) विशेष रूप[1] मे ले जाओ-पहुचाओ ॥ ६ ॥

---

१ "णीञ् प्रापणे" [भ्वादि०] लुङ् सामान्यकाले ।
"छन्दसि लुङ् लङ लिटः" [अष्टा० ३ । ४ । ६]

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये
यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥७॥

(त्वा) हे रोगमुक्त जन ! तुझे (जरायै परिददामि) जरावस्था के लिये मर्मापित करता हूँ-जरावस्था तक पहुंचने के लिये मैं चिकित्सक स्वस्थ करता हूँ (त्वा) तुझे (जरायै नि धुवामि) जरावस्था के लिये-जरावस्था तकपहुँचने के लिये नियत करता हूँ-प्रेरित करता हूँ (त्वा) तुझे (जरा भद्रा नेष्ट) जरा कल्याणरूप या भजनीय भोगों को प्राप्त करावे[1] (अन्ये मृत्यवः) और मृत्युएं (वियन्तु) इससे अलग हो जावे (यान्-इतरान् शतम्-आहुः) जिनको दूसरी सैकड़ों कहते हैं कह सकते है ॥ ७ ॥

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥८॥

(गाम्-उक्षणम्-इव रज्ज्वा) गौ को बैल को जैसे रस्से से बान्धते हैं ऐसे (त्वा) तुझे (जरिमा-अभि-आहित) जरावस्था बान्धती है-मृत्यु की ओर बान्धकर ले जाती है जरा के पश्चात् मृत्यु अनिवार्य है रोग का औषध तथा जरा से पूर्व मृत्यु का औषध है परन्तु जरा के पश्चात् मृत्यु का औषध नहीं है (यः-मृत्युः) जो मृत्यु (त त्वा) उस तुझे (जायमानम्) उत्पन्न हुए को (सुपाशया-अभ्यधत्त) कठिन पाश से बान्धे हुए है (ते) उस मृत्यु से (बृहस्पतिः) सर्वज्ञ परमात्मा (सत्यस्य हस्तभ्याम्-अमुञ्चत्) अपने सत्य हाथों से छुड़ाता है, अमर बनाता है ॥ ८ ॥

द्वादश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (शिल्परूपरेखाविज्ञ-इञ्जिनियर)

देवताः—शाला, वास्तोष्पतिः (गृह, गृहकलाकार-राजमिस्त्री)

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥१॥

(इह-एव) इस अनुकूल भूभाग में ही (ध्रुवां शालां निमिनोमि) दृढ़शाला-हवेली को निर्मित करता हूँ-नियमित रूप में स्थापित करता हूँ बुनियाद रूप में धरता हूँ (घृतम् उक्षमाणा क्षेमे तिष्ठाति) रहने वालों को आयु[1] का सिञ्चन करती हुई कल्याण के निमित्त स्थिर रहे (तां त्वा शाले) उस तुझ को हे शाला ! (सर्ववीराः सुवीराः-अरिष्टवीराः-उप संचरेम) हम सब पुत्रादि जन सहित, सुन्दर गुणवान् हुए, अहिंसित परिवार वाले होते हुए रहे निवास करे विचरें ॥ १ ॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥२॥

(शाले) हे शाला-हवेली ! तू (इह-एव) इस भूमिका पर ही (ध्रुवा प्रतितिष्ठ) ध्रुव प्रतिष्ठित रह (अश्वावती) प्रशस्त घोड़ों वाली (गोमती) प्रशस्त गौओं वाली (सूनृतावती) उत्तम वाणी वेदाध्यायन प्रवचन जिसमें होता रहे ऐसी (ऊर्जस्वती) भरपूर अन्न वाली[2] (घृतवती) पुष्कल घृतवाली (पयस्वती) पुष्कल दूध वाली होती हुई (महते सौभगाय-उच्छ्रयस्व) महान् सौभाग्य के लिये ऊंची उठ ॥ २ ॥

---

१ "आयुर्वै घृतम्" [तै० सं० २ । ३ । २ । २]

२ "अन्नमूर्जम्"] को० २८ । ५]

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्यन्दमानाः ॥३॥

(शाले) हे शाला-बड़ेघर ! तू (धरुणी) खम्बों वाली (बृहच्छन्दाः) बड़ी छत वाली (पूतिधान्या) पवित्र अन्नवाली (असि) है-हो (त्वा) तुझे-तेरे अन्दर (वत्सः) बच्चे (आगमेत्) आवें-प्राप्त रहें (कुमारः-आ) कुमार बालक आवें-प्राप्त रहें (धेनवः स्यन्दमानाः सायम्-आ) गौवें दौड़ी हुई सायं जङ्गल से चरकर प्राप्त हो ॥ ३ ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥४॥

(इमां.शालाम्) इस शाला को (सविता) राष्ट्रपति[1] तथा सूर्य (वायुः) पुरोहित[2] तथा हवा (इन्द्रः) खनन कर्त्ता तथा विद्युत् (बृहस्पतिः) विद्वान् शालाविद्या वेत्तातथा आकाश (प्रजानन्) सुबोध देते-अनुमति देता हुआ या अनुकूल होता हुआ (निमिनोतु) जांचे परखे अनुमति दे-ससिद्ध करे (मरुतः) ऋत्विज जन[3] (उद्ना घृतेन-उक्षन्तु) उछलते हुए तीव्र घृतसे सीचे होम द्वारा (राजा भगः-नः कृषिं नितनोतु) राजमान भजनीय परमात्मा हमारी सन्ततिरूपखेती प्रवृद्ध करे ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

---

१ "सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः" [श० ११ । ४ । ३ । १४]

२ "वायुर्वा पुरोहितः" [ऐ० ८ । १७]

३ "मरुत.-ऋत्विजः" [निघ०]

(मानस्य पत्नि) मान वाले-स्वजीवनयात्रा को मान से व्यतीत करने वाले, श्रेष्ठ मनुष्य की पालने वाली रक्षिका शाले ! (शरणा स्योना देवी) शरण देने योग्य सुखकरी क्रीडा स्थली (अग्रे देवेभिः-निमिता-असि) आरम्भ में ऋषियों-विद्वानों द्वारा लक्ष्य में लाई गई चित्रित की गई है (तृणं वसाना सुमनाः-असः) छेदन योग्य काष्ठादि को धारण की हुई अच्छा मन करने वाली हो (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सहवीरं रयिं दाः) पुत्रों सहित धनैश्वर्य भागैश्वर्य दे ॥ ५ ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून् ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले
शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥६॥

(वंश) हे वंश-वननीय शहतीर ! (ऋतेन) नियतरूप से (स्थूणाम्-अधि) थूणी-खम्बे पर रोहण कर-चढ (उग्रः-विराजन्) ऊंचा उठा हुआ तथा विशेष राजमान हुआ (शत्रून् वृङ्क्ष्व) नष्ट करने वाले विरोधी को दूर रख (शाले ते) हे शाला ! तेरे (गृहाणाम्-उपसत्तारः) घरों-कोठों के अन्दर रहने वाले (सर्ववीराः) सब पुत्रादि सहित (शतं शरदः-जीवेम) सौ वर्ष तक जीवित रहें ॥ ६ ॥

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥७॥

(इमाम्) इस शाला को-में (कुमारः) बालक (तरुणः) युवा (आ-अगुः) आ पहुंचें-प्राप्त हों (वत्सः-जगता सह-आ०) बच्चा शिशु अन्य जङ्गम के साथ आवें-प्राप्त हों (इमाम्) इस शाला को-में (परिस्रुतःकुम्भः-आ) पतले रस-रसदार वस्तु का घड़ा प्राप्त रहे (दध्नः कलशैः सह-आ०) दही के घड़ों के साथ प्राप्त हो ॥ ७ ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम् ।
इमां पात्रीममृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥८॥

(नारि) हे गृहपत्नी ! तू (एतत् कुम्भं प्रभर) इस रस आदि से भरे घड़े को सम्भाल (अमृतेन सम्भृतां धृतस्य धाराम्;) अमृत के द्वारा सम्यक् भरी और घृत की धारा को सम्भाल (इमां पात्रीम्) इस पीने वाली प्रजा को (घृ ।न समङ्ग्ध) घृत सिञ्चित करदे (एनाम्) इसको (इष्टापूर्त्तम्-अभि) यज्ञ सामाजिक पूरक वस्तु (अभिरक्षाति) सब ओर से रक्षा करता है ॥ ८ ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥९॥

(इमा:-अयक्ष्मा:-यक्ष्मनाशनी:-आप:-प्रभरामि) इन रोगरहित शुद्ध; रोगनाशक जलों को शाला में प्रभरित करता हूँ-सुरक्षित भरकर रखता हूँ[1] (गृहान् उप) घरों को-मैं उपगत होकर-प्राप्त होकर प्रकृष्ट रूप से रहता हूँ (अमृतेन-अग्निना सह) अन्नाद्य[2] और अग्नि के साथ ॥ ९ ॥

त्रयोदश सूक्त

ऋषिः—भृगुः (तेजस्वी)

देवता—सिन्धुः-आपः-वरुणः ।

यददः संप्रयतीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥१॥

---

१ "शसः स्थाने जस्" व्यत्ययेन ।
२ "अन्नाद्यं वा अमृतम्" [का० ४९ । ६]

(यत्-अदः-अहौ हते) कि उस हत हुए मेघ में-मेघहत होने पर (संप्रयतीः-अनदत) नदन नाद करती हुई हो (तस्मात्) तिस से (नद्यः-नाम-आस्थ) नदी प्रसिद्ध पृथिवी पर फैल गई हो (वः-नामानि सिन्धवः) तुम्हारे नाम सिन्धु हो ॥ १ ॥

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥२॥

(यत्) जब (वरुणेन) आकाश को वरण करने वाले घेरने वाले मेघ से (प्रेषिताः) प्रेरित हुओं को (शीभम्) शीघ्र[1] (समवल्गत) मिलने या मिलकर चलने लगो[2] (तत्-यतीः-इन्द्रः-आप्नोत्) चलते हुओं को वायु ने पालिया (तस्मात्-वः-आपः-अनु-स्थन) इससे तुम 'आपः' आप नाम अनुस्थिर हो गये हो ॥ २ ॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हिकम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥३॥

(वः-अपकामं स्यन्दमानाः) तुम कामना हितस्वभाव से बहते हुओं को (हिकम्) सुख से (इन्द्रः) वायु ने (देवीः-शक्तिभिः) तुम दिव्य गुणों का (अवीवरत्) वरा (तस्मात्-वाः-नाम हितम्) अतः हितकर नाम "वाः" ॥ ३ ॥

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥४॥

(वः स्यन्दमानाः-यथावशम्) तुम बहते हुओं को स्वाधीन कर (एकः-देवः-अपि-अतिष्ठत्) एक देवः-सूर्य अधिकार करता है (महीः-उदानिषुः)

१ "शीभं क्षिप्रम्" [निघ० २ । १५]
२ "वला गत्यर्थः" [भ्वादि०]

उसके द्वारा महान् हुए ऊपर गति करते हैं[1] (इति तस्मात्) इससे उदकम्-उच्यते) उदक कहे जाते हो ।। ४ ।।

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः ।

तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ।।५।।

(आपः-भद्राः) जल कल्याणकारी है (घृतम्-इत्-आपः-आसन्) जल-घृत रूप है जीवन मे स्नेह और तेज के रूप मे है (अग्नीषोमौ-ताः-आपः-इत्) प्राण अपान[2] को जल ही धारण करते है (मधुपृचा तीव्रः-रसः) मधु से मधुर स्वाद से सम्पृक्त जलों का तीव्र रस (अरङ्गमः) पर्याप्त जीवन-प्रापक (मा) मुझे (प्राणेन वर्चसा आगमेत्) प्राण से तेज से प्राप्त हो ।।५।।

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम् ।

मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ।।६।।

(आसा वः) इन तुम्हारे रूप को (आत्-इत्-पश्यामि) हां ठीक मैं देखता हूँ (उत वा शृणोमि) अपि वा तुम्हारे शब्द को सुनता हूँ (मा) मेरे प्रति (घोषः-आगच्छति) कारण कि नाद आता है (मावाङ्) मेरी ओर तुम्हारे साथ अन्य वाणी आती है (अमृतस्य भेजानः-मन्ये) मैं अपने को अमृत का सेवन करता हुआ मानता हूँ (तर्हि हिरण्यवर्णाः यदा-अतृपम्) तब हे मेध्य निर्मल जलों[3] जबकि तुम्हे पानकर तृप्त हो जाता हूँ ।। ६ ।।

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।

इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ।।७।।

---

१ "अनिति गतिकर्मा" [निघ० ३ । १४]

२ "प्राणापानावग्नीषोमौ" [ऐ० १ । २]

३ "मेध्यं हिरण्यम्" [काठ० २० । ८]

(ऋतावरीः-आपः) हे अमृत[1] रसवाले जलो ! (वः-इदं हृदयम्) यह तुम्हारा रस हृदय है-सार है (अयं वत्सः) यह बच्चा है (शक्वरीः) जीवन रस देने में शक्त समर्थ (इह-इत्थम्-आ-इत्) यहाँ हमारे में इस प्रकार आओ (वः-यत्र-इदं वेशयामि) तुम्हारे जिस हृदय स्थान में इस अमृत स्वरूप को प्रविष्ट करता हूँ मैं तृप्त हो जाता हूँ ।। ७ ।।

चतुर्दश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (मनस्वी)

देवता—गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ता (गोस्थान-अर्यमा आदि)

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि ।।१।।

(वः) हे गौओ ! तुम्हें (गोष्ठेन) गोस्थान-गोगृह से (सुषदा) सुन्दर बैठने रहने की स्थली से (संसृजामसि) हम संयुक्त करते (रय्या सम्) पुष्टि पुष्ट करने वाली[2] भोजनचर्या से संयुक्त करते है (सुभूत्या सम्) उत्तम प्रजनन व्यवस्था[3] से संयुक्त करते हैं (अहर्जातस्य यत्-नाम) दिन प्रतिदिन-दैनिक सम्पन्न होने वाले भोजन के नमन-यज्ञ-बलिवैश्व भाग हैं (तेना वः संसृजामसि) उससे संयुक्त करते हैं ।। १ ।।

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद् वसु ।।२।।

---

१ "ऋतममृतमित्याह" [जै० २ । १६०]

१ "पुष्टं वै रयिः" [श० २ । ३ । ४ । १३]

२ "पुरुषो वै सुभूतम्" [जै० २ । २७]

(वः) हे गौओ ! तुम्हें (अर्यमा संसृजतु) सूर्य अपने साथ अपने प्रकाश से संयुक्त करे (पूषा सम्०) पृथिवी अपने स्थान भ्रमण चारे से संयुक्त हो (बृहस्पतिः सम्०) वायु[1] शुद्ध श्वांस प्रदान द्वारा संयुक्त हो (यः-धन-जयः-इन्द्रः सम्) जो जीवन धन को जय कराने वाला विद्युत् मेघो में वर्तमान संयुक्त हो (यत्-वसु मयि पुष्यत) जो वसु-दूधघृत तुम्हारा है मेरे में पुष्टि दे ॥ २ ॥

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥३॥

(संजग्मानाः) हे गौओ ! तुम परस्पर मिली हुई-अविरोधी बनी हुई (अविभ्युषीः) निर्भय हुई (करीषिणीः) प्रशस्य पुरीष-गोबर वाली (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) सोम गुण युक्त मधुर दूध धारण करती हुई (अनमीवाः) रोग रहित हुई (अस्मिन्-गोष्ठे-उपेतन) इस गोस्थान मे उपस्थित रहो-प्राप्त रहो-प्राप्त होओ ॥ ३ ॥

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥४॥

(गावः) गौओ ! तुम (इह-एव) यहाँ गोस्थान में हो (एतन) आओ-प्राप्त होओ (इह-उ शका इव पुष्यत) यहाँ ही भौम वस्तु दूब आदि की भांति पुष्ट होओ (इह-एव) यहाँ ही आओ (इह-एव-उत प्रजायध्वम्) और यहाँ ही प्रजनन करो (वः-मयि संज्ञानम्-अस्तु) तुम्हारे मेरे में ममत्व हो ॥ ४ ॥

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥५॥

---

१ "अयं वै बृहस्पति योऽयं वायुः पवते" [श० १४ । २ । २ । १०]

(वः) हे गौओ ! तुम्हारा गोस्थान (शिवः-भवतु) कल्याण कर हो-है (शारिशाका-इव पुष्यत) शाली-सांठी की शाखाओं-कोपलो के समान पुष्ट होओ, (उत) और (इह-एव) यहाँ ही (प्रजायध्वम्) प्रजनन करो-प्रजा को बढ़ाओ (मया वः संसृजामसि) हम अपने साथ तुम्हें सयुक्त करते हैं-अपनाते हैं ।। ५ ।।

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥६॥

(गावः) हे गौओ ! तुम (मया गोपतिना) मुझ गोस्वामी के साथ (सचध्वम्) समवेत होओ-अनुकूल रहो (वः-अयं गोष्ठः) तुम्हारा यह गोस्थान है (इह पोषयिष्णुः) इस में मैं तुम्हारा स्वामी पोषणकर्त्ता हूँ (रायस्पोषेण बहुला भवन्तीः जीवन्तीः) भोग-खान पान के पोष-भरण पोषण द्वारा तुम बहुत होती और जीवन शक्ति धारण करती हुई को (जीवाः-उपसदेम) हम जीवन धारण करते हुए तुम्हें प्राप्त रहें ।। ६ ।।

पञ्चदश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा पण्यकामः (स्थिर मन वाला स्तुति का इच्छुक)

देवताः—१ इन्द्रः, २ पन्थानः, ३ अग्निः, ४ प्रपणो विक्रयश्च, ५ देवाः, अग्निः, ६ देवाः, इन्द्रः, प्रजापतिः, सोमः, अग्नि ७ वैश्वानरः, ८ जातवेदाः ।

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥१॥

(अहम्) मैं (वणिजम्-इन्द्रं चोदयामि) वणिक्-व्यापाराध्यक्ष-राजकीय व्यापाराधिकारी को प्रेरित करता हूँ-प्रार्थित करता हूँ (सः) वह

(नः-ऐतु) हमें प्राप्त हो (नः) हमारा (पुरः-एता-अस्तु) अग्रगन्ता होवे (अरातिं परिपन्थिनं मृगं नुदन्) न देने वाले अपितु छीनने वाले मार्ग पर रोककर लूटने वाले हिंसक को ताडित करता हुआ (सः-ईशानः) वह समर्थ (मह्यं धनदाः-अस्तु) मेरे लिए धन-व्यापार लाभ का दाता होवे ॥ १ ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥२॥

(ये बहवः पन्थानः-देवयानाः) जो बहुत से मार्ग कुशल व्यापारियों के गमन योग्य (द्यावापृथिवी-अन्तरा संचरन्ति) आकाश भूमि के मध्य स्थल जल गगन मे रथ पोत विमान वाले चलते है (ते) वे (पयसा घृतेन मा जुषन्ताम्) दूध आदि रसीले तथा घृत आदि स्निग्ध पदार्थो द्वारा मुझे प्रसन्न करें (क्रीत्वा धनम्-आहराणि) क्रय विक्रय कर धनलाभ पा सकूं ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥३॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (इच्छमानः) लाभ चाहता हुआ (तरसे बलाय) व्यापार के निमित्त वेग तथा बल प्राप्ति के लिए (इध्मेन घृतेन हव्यं जुहोमि) समिधा और घृत के साथ होम द्रव्यो को मैं होमता हूं (ब्रह्मणा वन्दमानः) मन्त्र से परमात्मा की वन्दना करता हुआ (यावत्-ईशे) जब तक मैं धन का स्वामी बना रहूं-धनस्वामी होकर भी मैं अग्निहोत्र और परमात्मा की वन्दना करता रहूंगा, त्यागूंगा नही (इमां देवी धियं शतसेयाय) इस दिव्य बुद्धि को बहुत लाभ प्राप्ति के लिए प्रयुक्त करने में समर्थ होता हूं ॥ ३ ॥

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥४॥

(अग्ने) हे आगे होने वाले व्यापार के मध्यस्थ दलाल ! (नः-इमां शरणिं मीमृषः) हम व्यापारियों-लेने देने वालों की इस बढ़-बढ़ कर मूल्य मांगने देने की काट को सहन कर या मध्यस्थ होकर सौदा करा (यम्-अध्वानं दूरम्-अगाम) जिस दूर मार्ग में हम चले गये, लेने वाले और देने वाले भाव-ताव में दूर हो गये है (नः प्रपणः-विक्रय·-च शुनम्-अस्तु) हमारा मूल्य लेना और बेचना सुखकर हो-हितकर हो (प्रतिपणः फलिन मा कृणोतु) पुनः आगे ले जाकर ग्राहकों को बेचना मुझे फलवान् करे लाभ पहुचावे (इदं हव्यं सं विदानौ जुषेथाम्) ठीक है व्यापारियो तुम दोनो लेन-देन करने वालो इस ग्राह्य वस्तु को एक मन होकर समझौता करते हुए सेवन करो (नः) ठीक है हमारा इस ग्राह्य वस्तु का (चरितम्-उत्थितं च) चलाना बेचना और उठाना (शुनम्-अस्तु) सुखरूप हो ।। ४ ।।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध ।।५।।

(देवाः) हे व्यापारियो ! (धनेन धनम्-इच्छमानः) मूल धन से लाभ धन को चाहता हुआ (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस मूलधन से मैं क्रय-व्यापार करता हूं (तत्-मे भूयः-भवतु) वह मेरे लिए अधिक हो (मा कनीयः) वह मेरे लिए कम न हो (अग्ने) हे आगे होने वाले मध्यस्थ दलाल ! तू (हविषा) अपनी भेंट दलाली द्वारा (सातघ्नः-देवान् निषेध) अधिक लाभ प्राप्त करने वाले व्यापारियों को नियतरूप से सिद्ध कर ।। ५ ।।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु
प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ।।६।।

(देवाः-धनेन धनम्-इच्छमानः) व्यापारियो ! मूलधन से लाभधन चाहता हुआ (येन धनेन प्रपणं चरामि) जितने मूल धन से मैं व्यापार करता

हैं (तस्मिन्) उस लाभ में-के निमित्त मेरे लिये (इन्द्रः) 'इदन्द्रः' किमान (प्रजापतिः) प्रजास्वामी-मुख्य जन (सविता) प्रेरक-व्यापाराधिकारी (सोमः) सोम्यस्वभाव विद्वान्-धर्माध्यक्ष (अग्निः) आगे आने वाला मध्यस्थ दलाल (रुचिम्-आदधातु) रुचि-पुष्टि सम्पोषण समन्तरूप से धारण करावे ॥ ६ ॥

उप॑ त्वा नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तु॒मः ।
स नः॑ प्र॒जास्व॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॒ जागृहि ॥७॥

(वैश्वानर होतः) हे विश्व को सन्मार्ग-सद् व्यापार में चलाने वाले वाक्पति[1] धर्मोपदेशक ![2] (वयं त्वा नमसा-उपस्तुमः) हम तुझे अन्नादि द्वारा[3] उपयुक्त-उपासित-सेवित करते हैं (सः) वह तू (नः-आत्मसु प्रजासु-प्राणेषु गोषु जागृहि) हमारे आत्माओ सन्तानादिओं प्राणों इन्द्रियों गौ आदि पशुओ के निमित्त जगाता रह-सावधान करता रहे, इस व्यापारवश इन के सम्बन्ध में पाप न कर सकें ॥ ७ ॥

वि॒श्वाहा॑ ते॒ सद॒मिद्भ॑रे॒माश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥८॥

(जातवेदः) वेदः-व्यापार धन ऐसे मध्यस्थ व्यापारसाधक हे जन ! (विश्वाहा) निरन्तर (ते सदम्-इत्) तेरे सदन-स्थान को अवश्य हम व्यापारी भरें (तिष्ठते-अश्वाय-इव) यात्रार्थ रहने वाले घोडे के लिए जैसे चरणस्थान को चारे से भरते हैं (रायः-पोषेण) धन व्यापार के पोष-लाभ से (इषा) अन्न भोजन से[4] (सम्मदन्तः) सम्यक् आनन्दित होते

---

१ "वाक्पतिर्होता" [तै० ३ । १ । १]

२ "होतर्धर्ममभिष्टुहि" [तै० आ० ५ । ४ । १]

३ "नमोऽन्ननाम" [निघ० २ । ७]

४ "इषमन्नम्" [निघ० २ । १४] "अन्नं वा इषः" [ऐ० आ० १।१।४]

हुए (अग्ने ते प्रतिवेशा:-मा रिषाम) हे आगे-व्यापार में आगे आने वाले व्यापार पालक जन तेरे प्रतिसङ्गी हम हिंसित न हों ॥ ८ ॥

——

षोडश सूक्त

ऋषि:—अथर्वा (स्थिरजन)

देवता:—अग्नीन्द्रादयो मन्त्रोक्ता: ।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥१॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

(प्रात:-अग्निम्) प्रात: उठकर सर्व प्रथम अग्नि-स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा को "अग्ने नय सुपथा……" [यजु० ४० । १६] (प्रात:-इन्द्रम्) प्रात:काल इन्द्र-ऐश्वर्यवान् परमात्मा को (हवामहे) स्तुत करें-स्तुति में लावें (प्रात:-मित्रावरुणा) प्रात: ही उसे मित्र-प्रेरक तथो वरुण वरयिता-धारक (प्रात:-अश्विना) प्रात: अध्यापक उपदेशक एवं माता पिता रूप को (प्रात:-भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिम्) प्रात: ही ऐश्वर्य के विभाजक, पोषक, और वेदस्वामी को (प्रात: सोमम्-उत रुद्रं हवामहे) प्रात: ही सोम-शान्त स्वरूप को, तथा रुद्रम्-नास्तिक एवं दुष्ट के रुलाने वाले परमात्मा को प्रशंसित करें ॥ १ ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

(प्रात -अग्निम्) प्रात:काल मे अग्नि को होमद्वारा (प्रात -इन्द्रम्) प्रात: ही इन्द्र-सूर्य को सेवन द्वारा (हवामहे) प्रशंसित करते हैं (प्रात:-मित्रावरुणा) प्रात: ही प्राण और उदान को प्राणायामद्वारा "प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ" [शत० १ । ८ । ३ । १२] (प्रात:-अश्विना) प्रात: ही अध्यापक, उपदेशक को अध्ययन और श्रवण से (प्रात:-भगं पूषणं ब्रह्मण-

स्पतिम्) प्रातः ही भग-जीवन निर्वाहक वस्तुमात्र को निरीक्षण से, पूषा-पोषक वायु को भ्रमण से अथवा पूषा-पृथिवी को "पूषा पृथिवीनाम" [निघ० १।१] शोधन कृषिकर्म से तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी को उपासना से (प्रातः सोमम्-उत रुद्र हवामहे) प्रातः ओषधिरस दुग्ध मिश्रित को आहार रूप से और रुद्र-रोगविनाशक-पथ्य पदार्थ को प्रशंसित करते हैं ॥ १ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

(प्रातः-जितम्) प्रातः जय कराने वाले, मानव जीवन को सफल बनाने वाले (उग्रं भगम्) तेजस्वी एवं भगवान्-ऐश्वर्य के भागी बनाने वाले (अदितेः पुत्रम्) अखण्ड सुखसम्पत्ति के बहुत रक्षक परमात्मा की "पुत्रम्-पुरुत्रम्-रुलोपश्छान्दसः" (वयं हवामहे) हम स्तुति करें (यः-विधर्त्ता) जो विश्व का विशेष धारक है (यम्-आध्रः-चित्) जिसको दरिद्र भी (यं तुरः-चित्) जिसको वेगवान्-बलवान् भी (यं राजा चित्) जिसको राजा भी (यं भगं मन्यमानः) जिसको भग भजनीय मानता हुआ (भक्षि-इत्याह) सेवन करूं ऐसा कहता है ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

(प्रातः-जितम्) प्रातः-जय-उत्कर्ष कराने वाले (उग्रं भगम्) उद्गीर्ण-ऊपर गये हुए प्रवृद्ध अन्नादि ऐश्वर्य (अदितेः पुत्रम्) पृथिवी के पुत्र समान को "अदितिः पृथिवी नाम" [निघ० १ । १] (वयं हवामहे) हम प्रशंसित करते हैं (यः-धर्त्ता) जो मनुष्यों को विशेष रूप से धारण करने वाला है (यम्-आध्रः-चित्) जिसको दरिद्र भी (यं तुरः-चित्) जिसको बलवान् भी (यं राजा चित्) जिसको राजा भी (यं भगं मन्यमानः) जिसको भजनीय-सेवन करने योग्य मानता हुआ (भक्षि-इत्याह) सेवन करूं ऐसा कहता है ॥ २ ॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

(प्रणेत: भग) हे जगद्रचयिता भगवान् 'भग-इत्यकारो मत्वर्थीय:' (भग सत्यराध:) हे सत्य धन वाले भगवान् ! (इमां धियं ददत्) इस बुद्धि को देता हुआ (न:-उदव) हमें उन्नत कर (भग गोभि:-अश्वै:-न: प्रजनय) भगवन् ! गौ आदि दुधारू पशुओं से और घोड़े आदि वाहक पशुओं के द्वारा हमें बढ़ा (भग नृभि:-नृवन्त: स्याम) भगवन् ! प्रशस्त पारिवारिक जनों से हम जनवाले हो ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

(भग प्रणेत:) हे ऐश्वर्य ! तू सब कार्य के प्रणयन कर्त्ता ! (भग सत्यराध:) हे ऐश्वर्य ! तू सत्य धन है (इमां धिय ददत्) इस बुद्धि को देता हुआ (न:-उदव) हमे उन्नत कर-हमारे द्वारा श्रेष्ठ कर्मों में व्यय हो (भग गोभि:-अश्वै.-न·-प्रजनय) हे ऐश्वर्य तू गौ आदि दुधारु पशुओं और घोड़े आदि वाहक पशुओं के द्वारा हमें बढा-हमें गौ घोडों वाला बना (नृभि:-नृबन्त:-स्याम) प्रशस्त मित्र आदि जन वाले कार्य समर्थ हो ॥ ३ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥४॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

(मघवन्) ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (उत-इदानीम्) हां इस समय (देवानां सुमतौ) प्रथम मन्त्रोक्त अग्नि आदि से तेरे दिव्य स्वरूपों की यथार्थ स्तुति में "मन्यते अर्चति कर्मा" [निघ० ३ । ४] (वयं स्याम) हम हों, तो (भगवन्त: स्याम) उस उस नाम के ऐश्वर्य वाले हो जावें, यथान्यत्र—

"तेजोसि तेजो मयि धेहि" [यजु० १९ । ९] (उत प्रपित्वे) और सायं उनकी सुस्तुति में हो जावें तो सायं ही हम ऐश्वर्य गुण वाले हो जावें (उत मध्ये-अह्नाम्) और दिन के मध्य मे "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" [अष्टा० १ । २ । ५८] उनकी सुस्तुति मे होवे तो दिन के मध्य में ही हम उनसे ऐश्वर्य वाले हो जावे (उत सूर्यस्य-उदितौ) और सूर्य के उदय होने पर उनकी सुस्तुति मे हो जावें तो सूर्य के उदय काल में ही हम उनसे ऐश्वर्य वाले हो जावें ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

(मघवन्) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (उत-इदानी देवानां सुमतौ स्याम भगवन्तः स्याम) और इस समय तेरे उपासको की श्रेष्ठ मति में हम हो जावें तो हम इस समय ही ऐश्वर्य वाले हो जावें । आगे सुगम पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥५॥

दोनों दृष्टियों में समान—

(भगवान् देव -भगः-एव-अस्तु) भगवान् परमात्मदेव ही हम उपासको का ऐश्वर्य हो हम अन्य ऐश्वर्य को नही चाहते (तेन वय भगवन्तः स्याम) उससे हम ऐश्वर्य वाले हो (भग त त्वा मर्व-इत्-जोहवीमि) हे भगरूप परमात्मन् उस तुझको सर्व परिवार युक्त मै पुनः पुनः प्रशंसित कर रहा हूँ (भग सः-इह नः पुरः-एता भव) भग-ऐश्वर्यरूप परमात्मन् ! वह तू इस परिवार में या इस संसार मे हमारा अग्रगन्ता हो ॥ ५ ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥६॥

(उषसः-अध्वराय सन्नमन्त) उषाएं ब्रह्मयज्ञ और होमयज्ञ के लिए मनुष्यों को झुकाती हैं-प्रवृत्त कराती है (दधिक्रावा-इव शुचये पदाय) जैसे

मनुष्य को धारण किए घोड़ा शोभमान प्राप्त स्थान के लिए प्रवृत्त कराता है (वसुविदं भगं नः) वे उषाएं प्रतिदिन प्रवर्तमान वसु-धन के प्राप्त कराने वाले भजनीय परमात्मा को हमें प्राप्त करावें (अर्वाचीन रथम्-इव वाजिनः-आवहन्तु) जैसे बलवान् घोड़े प्राप्त रथ को प्राप्तव्य स्थान की ओर समस्तरूप से ले जावें ॥ ६ ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

(उषसः) ये उषाएँ प्रतिदिन (अश्वावतीः) ईश्वर वाली, ईश्वरोपासना के लिये प्रेरणा देती हुई "ईश्वरो वा अश्वः" [तै० ३ । ८ । ९ । ३] (गोमतीः) यज्ञवाली-यज्ञ का संकेत देने वाली (वीरवतीः) प्राणवाली "प्राणा वै वीराः" [शत० १२ । ८ । १ । २२] अथवा सब घोड़ों वाली, गौओं वाली, पुत्रों वाली होती हुई (भद्राः-नः सदम्-उच्छन्तु) कल्याणकारी स्थान को प्राप्त हों चमकावें-प्रकाशित करें (विश्वतः प्रपीताः) सब ओर प्रवृद्ध हुई (घृतं दुहाताः) अध्यात्म तेज को प्रपूरित करती हुई या रेतः को सींचती हुई "रेतो घृतम्" [शत० ९ । २ । ३ । ४४] (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पातः) तुम कल्याण भावनाओं से सदा हमारी रक्षा करो ॥ ७ ॥

सप्तदश सूक्त

ऋषिः—विश्वामित्रः (सर्वमित्रः)

देवता—सीता (क्षेत्रभक्ति)

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥१॥

(देवेषु धीराः कवयः) विद्वानों में धीर धैर्य वाले कर्मठ कृषिवल जानने वाले कृषक (सीरा युञ्जन्ति) हलों को जोतते हैं (युगा पृथक्-

वितन्वते) जुओं को पृथक् पृथक् बैलो पर वितानित करते हैं-बांधते हैं (सुम्नयौ) मनुष्य के सुख कामना के निमित्त[1] ॥ १ ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो
नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥२॥

(सीरा युनक्त) हे कृषको ! हलो को जोतो (युगा वि तनोत) जुओं को वितानित करो-बैलो के कन्धो पर डालो (इह कृते योनौ) हल की फाल से इस फटी क्यारी में (बीजं वपत) बीज बोओ (विराजः श्नुष्टिः सभराः-असत्) अन्न की बाल जब दाने भरी हो जावे (नेदीयः-इत्-नः सृण्यः-पक्वम्-आयवन्) तो तुरन्त हमारी द्रात्रियाँ पके हुए के पास काटने को समन्त-रूप से अलग करें-काटले ॥ २ ॥

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्यम् ॥३॥

(लाङ्गलम्) हल (पवीरवत्) पवी-शल्य-लोहशूल-फालवाला[2] (सुशीमम्) मिट्टी या खेत में सुष्ठु शयन-घुसने योग्य को[3] (सोमसत्सरु)

---

१ "सुम्नं सुखनाम" [निघ० ३ । ६] छान्दसे भावे क्यचि निमित सप्तमी

२ "पवी:-पवी शल्यो भवति तद्वत् पवीरवमायुधम्" [निरु० १२ । ३०] स्त्रियां ङीष् पवी, अणिस्तद्वान् अणिमान् फाल.-फालोऽस्मिन्नस्तीति फालवत्-लाङ्गलम् ॥

३ सु पूर्वात् 'शीङ् शयने' इत्यस्माद् धातोः यक् प्रत्ययः-औणादिक बाहुल-कात् ।

अन्नों, ओषधियों, वनस्पतियों के सदन तक कुटिल प्रेरक-हलमुष्टिवाला[1] (इत्) अवश्य (प्रस्थावत्-उद्वपतु) प्रकृष्टस्थिति-जीवन देने वाले अन्न को उगाता है-उत्पन्न करता है (च) और ओषधि वनस्पति के उगने उत्पन्न होने पर (गाम्-अविं रथवाहनं पीवरीं प्रफर्व्यम्) गौ, भेड़-बकरी, रथ ले जानेवाले बैल, घोड़े, पुष्टिवाली भैंस, फर फर गतिवाली कर्मशील मानव सन्तति-मनुष्य पीढी को उत्पन्न करता है-बनाता है ।। ३ ।।

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ।। ४ ।।

(इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) आदित्य-सूर्य[2] हलफाल द्वारा बनी रेखा खाई क्यारी को यथावत् ग्रहण करे, किरणों से अच्छी बलवती करे (पूषा ताम्-अभिरक्षुतु) पृथिवी[3] उसे पुष्ट करे (सा) वह (पयस्वती) जलसिक्त हुई (उत्तराम्-उत्तरां समाम्) उत्तरोत्तर वर्ष विभागों-ऋतु-ऋतु, फसल-फसल को (नः) हमारे लिए (दुहाम्) दूहें-उपजावें ।। ४ ।।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ।।५।।

(कीनाशाः) कृषक-किसान[4] (वाहान्-शुनम्-अनुयन्तु) हल लेकर सुख शान्ति पूर्वक बैलों, घोड़ों के साथ चलें, यतः (सुफालाः भूमिं वितुदन्तु) उत्तम फाल-फाल वाले हल भूमि को सुख से तोड़ें-कुरे दें (शुनासीरा) वायु और सूर्य दोनो[5] (हविषा) ग्राह्य अन्न शक्तिप्रद रश्मि पवनधारा द्वारा

---

१ "अन्न वै सोमः" [मै० ३ । १० । ७] "ओषधयः-सोमः" [मै० २ । ५ । ५] "सोमो वै वनस्पतिः" [मै० १ । १० । ९] 'त्सर छद्मगतौ' [भ्वादिः]

२ "असौ वा आदित्य इन्द्रः" [काठ० १३ । ७]

३ "पूषा पृथिवीनाम" [निघ० १ । १]

४ "कृषकाः [उणादि० ५ । ५६]

५ "शुनो वायुः सीर आदित्यः" [निरु० ९ । ४०]

(तोशमाना) भूमि को, खेत को बढाते हुए-प्रवृद्ध शक्ति देते हुए[1] (अस्मै) इस कृषक या भूमिभाग के लिए (सुपिप्पला:-ओषधी:-कर्त्तम्) अच्छे फलवाली ओषधियां करें-उत्पन्न करें ॥ ५ ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

(वाहा: शुनम्) बैल घोड़े सुखार्थ (नर: शुनम्) मनुष्य सुखार्थ (लाङ्गलं शुनं कृषतु) हल सुखार्थ खेत खींचें-जोते-कुरेदें (वरत्रा शुनं बध्यन्ताम्) बन्धन रस्सी सुखार्थ बांधी जावें (अष्ट्रां शुनम्-उदिङ्गय) शरीर में व्यापने वाले अणिदण्ड को सुखार्थ प्रेरित करे ॥ ६ ॥

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

(शुनासीरा) हे वायु और सूर्य तुम दोनों (इह स्म मे जुषेथाम्) यहाँ मेरे हव्य होमे हुए द्रव्य को आहुति रूप को सेवन करो (यत् पय:) जिस जल को (दिवि चक्रथु:) तुम आकाश में सम्पन्न करते हो (तेन) उस मेघ जल से (इमाम्) इस कृषिभूमि को (उपसिञ्चतम्) उपसिञ्चित करो-सींचो॥ ७ ॥

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

(सीते) हे हल फाल से बनी खेत क्यारी (त्वा वन्दामहे) हम तेरी स्तुति-प्रशंसा करते हैं[2] (सुभगे-अर्वाची भव) हे हमारे लिये सौभाग्य के में निमित्तभूत तू हमारी ओर-हम सफल करने वाली हो (यथा न:

---

१ "तोशा वर्धकौ" [ऋ० ३ । १२ । ४ दयानन्द:] 'तुश वैदिकधातु:' ।
२ "वदि-अभिवादनस्तुत्यो: [भ्वादि:]

सुमनाः-असः) जिस से हमारे लिये सुमन करने वाली-हमारे मन को प्रसन्न करने वाली बढ़ती हुई हो (यथा नः सुफला भुवः) जिस से हमारे लिये अच्छे फल देने वाली हो ॥ ८ ॥

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्यावंवृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥९॥

(मधुना घृतेन समक्ता सीता) मधुर जल से[1] सम्यक् सींची हुई क्यारी (विश्वैः-देवैः-मरुद्भिः-अनुमता) समस्त दिव्य गुण वाले भौतिक पदार्थों और वायुओं से अनुकूलता को प्राप्त हुई (सा) वह (सीते) हे क्यारी ! तू (पयसा-ऊर्जस्वती) रस से रसभरी[2] (घृतवत् पिन्वमाना-अभ्याववृत्स्व) घृत के समान सींचती हुई हमे अभिवर्तित हो-प्राप्त हो ॥ ९ ॥

अष्टादश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा, ऋग्वेदे इन्द्राणी ।

देवताः—वनस्पतिः (बाणपर्णी) ऋग्वेद उपनिषत् सपत्नीबाधनम् ।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

(वीरुधां बलवत्तमाम्) विरोहण करने वालियो में अत्यन्त बलवती (इमाम्-ओषधिं खनामि) इस अन्यथा कामदाह को पीनेवाली बूटी को मैं निष्पन्न करता हूँ[3] या खोजता हूँ[4] (यया) जिसके द्वारा (सपत्नीं बाधते)

---

१ "घृतमुदकनाम" [निघ० १ । १२]

२ "रसो वै पयः" [श० ४ । ४ । ४ ८]

"ऊर्जस्वती रसवती रित्येवैत्याह" [श० ५ । ३ । ४ । ३]

३ "खनामि निष्पादयामि" [यजु० ११ । २८ दयानन्दः]

४ "खनन्तः-खोज करते हुए" [यजु० ११ । २१ दयानन्दः]

भार्या सपत्नी को हटाती है (यया पतिं स विन्दते) जिसके द्वारा निजभार्या पति को सम्यक् प्राप्त करती है ॥ १ ॥

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

(उत्तानपर्णे) हे ऊपर-उन्नत धर्मों वाली, सुष्ठु ऐश्वर्य वाली ! (देवजूते) विद्वानों एवं दिव्यगुणों से प्रेरित या पूरित (सहस्वति) बलवती ओषधि ! (मे) मेरी (सपत्नी परा णुद) सपत्नी-अधर्मस्वभावा, काम-वासना की आधारभूत रामा को परे करदे (मे केवलं पतिं कृधि) केवल मेरे लिए ही पति को कर-बना ॥ २ ॥

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

(ते नाम न जग्राह) मैंने तो तेरा नाम तक नहीं लिया-मेरे अन्दर कभी अन्य पुरुष के प्रति कामवासना नही आई (अस्मिन् पतौ न रमसे) इस मेरे पति में रमण न कर (सपत्नी परावतः पराम्-एव गमयामसि) पति के अन्दर से सपत्नीवाली कामवासना को दूर से दूर हटाती हूँ ॥ ३ ॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

(उत्तरे) हे उत्कृष्ट धर्म शिक्षा ! ओषधि (अहम्-उत्तरा) मैं उत्कृष्ट हूँ-अन्य के प्रति कामवासनारहित हूँ (उत्तराभ्यः-उत्तरा) अपि तु उत्कृष्ट पवित्र सदाचारिणियों से भी उत्कृष्ट सदाचारिणी हूँ (या सपत्नी) जो सपत्नी भावना (अधः) निकृष्ट है (सा-अधराभ्यः-मम-अधरा) वह मेरे लिए नीच वृत्तियों में भी नीच है-मैं उसे पसन्द नहीं करती हूँ ॥ ४ ॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।

उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

(अहं सहमाना-अस्मि) मैं सहमाना-कामवासना को अपने अन्दर वश मे करने वाली हूँ (अथ-उ) और फिर (त्वम्-सासहिः-असि) तू भी कामवासना को अपने अन्दर वश मे करन वाला है, धर्म शिक्षा ओषधि (उभे सहस्वती भूत्वा) दोनो कामवासना को सहन करने-वश मे करनेवाली होकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नी कामवासना को वश मे करें ॥ ५ ॥

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।

मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु

पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

(ते सहमानाम्-अभिधाम्) हे पतिदेव, कामवासना को वश में करने वाली धर्म शिक्षा ओषधि को तेरे समर्पित करती हूँ (सहीयसीं ते उपधाम्) कामवासना को अत्यन्त सहन करने-वश मे करने वाली धर्म शिक्षा ओषधि को तेरा आश्रय बनाती हूँ (ते मनः-माम्-अनु) तेरा मन मेरे अनुकूल हो (गौः-वत्सम्-इव-धावतु) जैसे गौ बछड़े के प्रति दौड़ती है (वाः-पथा-इव धावतु) और जैसे जल निम्न मार्गों में स्वतः दौड़ता हैं ॥ ६ ॥

पति पुरुष के अन्दर से सपत्नी की कामवासना को मिटाने के लिए गुह्य धर्म शिक्षा, ब्रह्मीबूटी आदि ओषधियों का सेवन करना चाहिए ।

एकोनविंश सूक्त

ऋषिः—वसिष्ठः (राजनीति में अत्यन्त बसा हुआ)

देवताः—विश्वेदेवा इन्द्रश्च (विद्वान् और राजा)

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णु येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥

(मे-इदं ब्रह्म संशितम्) मेरा यह ज्ञान तेजस्वी है (वीर्यं बलं संशितम्) आत्मबल और मनोबल तेजस्वी है (क्षत्रं संशितम्-अजरम्-अस्तु) अतः क्षात्रबल तीक्ष्ण और क्षीणतारहित हो (येषां जिष्णुः पुरोहितः-अस्मि) जिनका मैं जयशील पुरोहित हूँ ॥ १ ॥

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

(एषां राष्ट्रम्) इन अपने राजाओं के राष्ट्र को (संश्यामि) सम्पुष्ट करता हूँ (ओजः-वीर्यं बलं सम्) आत्मबल को और मनोबल को सम्पुष्ट करता हूँ (अनेन हविषा) इस प्रेरण प्रभाव से (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओं के बाधक बलों को छिन्न-भिन्न करता हूँ ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥

(ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्) जो हमारे युद्ध विद्याकुशल[1] ऐश्वर्यवान् राजा के प्रति संग्राम करें, (नीचैः पद्यन्ताम्) वे नीचे गिरें-दुर्दशा को प्राप्त हों (अधरे भवन्तु) अधीन हो जावें (अहं ब्रह्मणा अमित्रान्-क्षिणामि) मैं ब्रह्मास्त्र से उन शत्रुओं को क्षीण करता हूँ (स्वान्-उन्नयामि) और अपने लोगों को उन्नत करता हूँ ॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

---

१ "सूरिं युद्धविद्याकुशलम्" [ऋ० १ । १९ दयानन्दः]

(येषां पुरोहित:-अस्मि) जिन राजाओं का मैं पुरोहित: हूँ, वे (परशो:-तीक्ष्णीयांस:) परशु-कुठार से तीक्ष्ण रूप से शत्रुओं का छेदन भेदन करने वाले हैं (उत) अपितु (अग्ने:-तीक्ष्णतरा:) अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण रूप में शत्रुओं को भस्म कर देने वाले है (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांस:) इन्द्र-विद्युत् प्रहार के बल से भी तीक्ष्ण रूप में शत्रुओं को प्राणों से रहित करने वाले हैं ॥ ४ ॥

एषामहमायुधा सं श्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

(एषाम्-आयुधा-अहं श्यामि) इन अपने राजाओं या शस्त्रों को तीक्ष्ण करता हूँ (एषा सुवीरं राष्ट्रं वर्धयामि) इनके अच्छे वीरो से युक्त राष्ट्र को बढ़ाता हूँ (एषां क्षत्रम्-अजरम्-अस्तु) जिससे इनका क्षात्र बल न क्षीण होने वाला हो (विश्वे देवा:) सब विद्वान् (एषां जिष्णु:-चित्तम्-अवन्तु) इनके जयशील चित्त की रक्षा करें ॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

(मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् राजन् ! (वाजिनानि-उद्-हर्षन्ताम्) अश्वादि खुला हर्ष करें (वीराणां जयताम्-घोष:-उदेतु) जयशील वीरों का घोष उच्च हो (घोषा: पृथक्-केतुमन्त:-उलुलय:-उदीरताम्) घोष अलग-अलग और चमचमाते हुए 'उरुलव:' बहुत छेदन करने वाले शस्त्रास्त्र ऊपर उठें (मरुत:-देवा:-इन्द्रज्येष्ठा: सेनया यन्तु) सैनिक विद्वान्-प्रधान सैनिक इन्द्र विद्युत्-वैद्युत अस्त्र प्रमुख बल जिनके पास है ऐसे[1] वे सेना के साथ चलें-आक्रमण करें ॥ ६ ॥

१ "इन्द्रज्येष्ठान्-इन्द्रो विद्युत्-ज्येष्ठो येषां तान्" [ऋ० ४ । ५४ । ५ द०]

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

(नरः) हे नेता जनो ! तुम (प्रेत) प्रगति करो-आगे बढ़ो (जयत) जय प्राप्त करो (वः) तुम्हारे (बाहवः) बाहुए-भुजाएं (उग्राः सन्तु) उन्नत बलवाले हों-हैं (तीक्ष्णषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले (उग्रायुधाः-उग्रबाहवः) तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र वाले बलवाली भुजाओं वाले तुम (अबल धन्वनः-अबलान् हत) बलहीन धनुष वाले बलरहित शत्रुओं को मारो ॥ ७ ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

(शरव्ये) हे ब्राह्मशक्ति से तीक्ष्ण हुई शरों-हिंसित करने वाले शस्त्रों में साधु बलिष्ठ बाण शस्त्र (अवसृष्टा) तू छोड़ी हुई (परापत) शत्रुओ की ओर जा (अमित्रान् जय) शत्रुओं को जीत (प्रपद्यस्व) उन पर प्रपतन कर-प्रहार कर (एषां वर वर जहि) इन में से मुख्य मुख्य को मार (अमीषां कश्चन मा मोचि) इन में से किसी को भी मत छोड़ना ॥ ८ ॥

विंश सूक्त

ऋषिः—वसिष्ठः ।

देवताः—अग्निः, मन्त्रोक्ता नानादेवता ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (अयम्) यह आत्मा-आत्मरूप इध्म[1] (ऋत्वियः-योनिः) ऋतु-समय पर प्राप्त होने वाला अभ्यास

---

१ "अयं त इध्म आत्मा"

वैराग्य से साधित हुआ मिलन का इच्छुक या मिलने का घर-स्थान है[1] (यतः-जातः) जिस आत्मा घर-स्थान से प्रसिद्ध-प्रचारित हुआ तू (अरोचथाः) जगत् में प्रकाशमान होता है। आत्मा स्वयं अपने में साक्षात् करके संसार में प्रसिद्ध करता है (तं जानन्) उस स्वगृह आत्मा को जानता-अपना बनाता हुआ (आरोह[2]) समन्तरूप से बढ़, इस आत्मा को बढा (अधः) पुनः-साथ ही (नः) हमारे लिये (रयिं वर्धय) ऐश्वर्य-जीवनैश्वर्य को-अध्यात्म धन को बढ़ा ॥ १ ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! (नः-इह) हमारे इस जीवन में (अच्छ वद) कल्याणकारी ज्ञान का उपदेश कर (नः प्रत्यङ् सुमनाः-भव) हमारे प्रति हमारे अन्दर प्राप्त हुआ हमारे मन को अच्छा बनाने वाला हो (विशां पते) हे जडजङ्गम प्रजाओं के पालक परमात्मन् (त्वं नः-धनदा-असि) तू हमारा धन का देने वाला है, अतः (नः-प्रयच्छ) हमारे लिए प्रदान कर ॥ २ ॥

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

(अर्यमा) मोक्षैश्वर्य का सूर्यसमान दाता परमात्मा (यः) जो (नः) हमारे लिए (प्रयच्छतु) मोक्ष दे (भगः प्र) ऐश्वर्यवान् भजनीय परमात्मा हमारे लिए धन दे (बृहस्पतिः-प्र) बड़े-बड़े देवो का स्वामी बृहस्पति सुख प्रदान करे (देवीः प्र) परमात्मा की दिव्य शक्तियां दिव्य धन प्रदान करें

---

१ "योनिः गृहनाम" [नि० ३ । ४]

२ "रोह वर्धयस्व" [ऋ० ३ । ८ ११ दयानन्दः]

(सूनृताः-मे रयिं दधातु) उसकी उत्तम वेदवाणी मेरे लिए ज्ञान आदि धन धारण करावे ॥ ३ ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

(अवसे) अपनी रक्षा के लिये (सोमम्) शान्तस्वरूप (राजानम्) संसार के राजा (अग्निम्) ज्ञानप्रकाशक (आदित्यम्) अदिति अखण्ड सुख-सम्पत्ति मुक्ति के स्वामी (विष्णुम्) व्यापक (सूर्यम्) प्रेरक (ब्रह्माणम्) महान् (च) और (बृहस्पतिम्) वेदवाणी के स्वामी परमात्मा को (गीर्भिः) स्तुतियो से (हवामहे) आमन्त्रित करते है ॥ ४ ॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! (त्वम्-अग्निभिः) अन्य ज्ञान प्रकाशक अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा के द्वारा, अन्दर साक्षात् ज्ञान प्रकाशित करके (नः) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान को (च) और (यज्ञम्) वेदानुसार श्रेष्ठतम कर्म को (वर्धय) बढ़ा-बढ़ाता हे (देव) हे ज्ञान दान आदि गुणों से युक्त परमात्मन् ! (त्वम्) तू (नः) हमारे मे जो (दातवे) अन्यो को ज्ञान दान देने वाला है उसके लिए (दानाय) अन्यो को देने के लिये (रयिं चोदय) ज्ञानादि धन को प्रेरित कर-प्रदान कर ॥ ५ ॥

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना
असद् दानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥

(सुहवा-उभो-इन्द्रवायू) सुष्ठु बुलाने योग्य, हे दोनों धनों से युक्त ऐश्वर्यवान् तथा जीवनप्रद परमात्मन् ! (इह) इस अध्यात्म कल्याण प्रसङ्ग

में तुझे (हवामहे) हम बुलाते हैं-स्मरण करते हैं (यथा) जिस से (नः) हमारे में से (सर्वः-जनः-इत्) सब जन-प्रत्येक जन (सङ्गत्याम्) सङ्गति में-परस्पर मेल में (सुमनाः-असत्) अच्छे मनवाला हों (नः) हमारे में से प्रत्येक (दानकामः-भवतु) परस्पर दान, सहयोग का देने वाला हो जाये, ऐसा कर ॥ ६ ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

(अर्यमणम्) तापवान् आदित्य को[1] (बृहस्पतिम्) मेघ सम्पादिका गर्जना के पालक स्तनयित्नु को (इन्द्रम्) विद्युत् को (वातम्) पृथिवी को स्पर्श करने वाले वायु को (सरस्वतीम्) पृथिवी पर बहने वाली नदी को (सवितारम्) उत्पन्न करने वाली पृथिवी[2] (च) और (वाजिनम्) ऋतु को[3] (दानाय चोदय) अपने गुण व्यवहार देने के लिए हे परमात्मन् ! प्रेरित कर ॥ ७ ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥८॥

(वाजस्य प्रसवे नु सम्बभूविम) पूर्वोक्त भौतिक देवों द्वारा दिये अन्न-बल की प्राप्ति में शीघ्र हम समर्थ होते हैं (च) और (इमा विश्वा भुवनानि-अन्तः) ये सारे भूत प्राणी भी[4] इसके अन्दर हैं, वे भी अन्न बल से जीवन निर्वाह करने को समर्थ होते हैं (उत) अपि च (अदित्सन्तं जानन्) न देने की इच्छावाले को जानता हुआ परमात्मा (दापयतु) न देने वाले से दिलावे-

---

१ "असौ वा आदित्योऽर्यमा" [तै० २ । ३ । ४ । १]

२ "इयं पृथिवी वै सविता" [श० १३ । १ । ४ । २]

३ "ऋतवो वै वाजिनः" [कौ० ५ । २]

४ "भुवनं भूतानि" [निरु० १० । १२]

दिलाता है, उस के द्वारा रचा प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी रूप में हमें लाभ देने वाला होता है (च) और (नः सर्ववीरं रयिं नियच्छ) हमारे लिए सर्व बलसम्पन्न धन प्रदान कर ॥ ८ ॥

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥

(मे पञ्च प्रदिशः-यथाबलं दुह्राम्) मेरे लिये पांच प्रमुख दिशाएं पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और ऊर्ध्व दिशा यथा शक्ति अपना अपना लाभ दोहन करें, तथा (ऊर्वीः-दुह्राम्) छः उर्विया-अग्नि, पृथिवी, जल, दिन, रात्रि[1] अपना मन से बुद्धिलाभ दोहन करें (सर्वाः-आकूतीः) सारी कामनाओं को (मनसा च हृदयेन) मन से और बुद्धि से (प्रापेयम्) प्राप्त करूं ॥ ९ ॥

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

(गोसनिं वाचम्-उदेयम्) मै परमात्मा की स्तुति भरी वाणी बोलूं[2] (मां वर्चसा-अभ्युदिहि) मुझे तेज से ऊपर उभारे-अभ्युदय को प्राप्त करावे (वायुः) प्राणस्वरूप परमात्मा या वायु (सर्वत -आरुन्धाम) सब ओर से अपने मे धारण करे (त्वष्टा मे पोष दधातु) निर्माणकर्ता परमात्मा या सूर्य मेरे अन्दर पुष्टि धारण करावे ॥ १० ॥

---

१ "षण्मोर्वीरंहसस्पात्वग्निश्च पृथिवीचापश्च वातश्चाहश्च रात्रिश्च"
[श० १ । ५ । १ । २२]

२ 'वद धातोः "लिङ्याशिष्यङ्" [अष्टा० ३ । १ । ८६] इत्यङ् सम्प्रसारणञ्च ।

एकविंश सूक्त

ऋषिः—वसिष्ठः ।

देवता:—अग्निः ।

ये अग्नयो अप्स्वन्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥१॥

(ये-अग्नयः) जो अग्नियां-अग्नि (अप्सु-अन्तः) जलों-जलाशयों के अन्दर वाडवानल रूप से हैं (ये वृत्रे) जो अग्नि मेघ में विद्युद्रूप में है (ये पुरुषे) जो अग्नि शरीर में वैश्वानर-जाठराग्निरूप से (ये-अश्मसु) जो अग्नि पत्थरों चुम्बकीय अयस्कान्त आदि में (यः-ओषधीः-यः-वनस्पतीन्-आविवेश) जो फलपाक कारी ओषधियों और वनस्पतियों में आविष्ट है (तेभ्यः-अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिए (एतत्-हुतम्-अस्तु) यह हवन हो ॥ १ ॥

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥२॥

(यः सोमे-अन्तः) जो अग्नि सोम ओषधि विशेष के अन्दर मदकारी हर्षकारी रूप में (यः-गोषु-अन्तः) जो अग्नि गवादि पशुओं में दूध परिणाम-कारी है (यः वयः सुः-मृगेषु-आविष्टः) जो पक्षियों में उदान शक्ति प्रद और जाङ्गलिक पशुओं में पराक्रमकारीरूप में आविष्ट है (यः-द्विपदः-यः-च चतुष्पदः-आविवेश) जो दो पैर वाले मनुष्यों में ज्ञानकारी और जो चार पैर वाले नागरिक पशुओं में श्रमकारी रूप में आविष्ट है (तेभ्यः-अग्निभ्यः) उन सब अग्नियों के लिए (एतत्-हुतम्-अस्तु) यह यथोचित भाग हो ॥ २ ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥३॥

(यः-देवः) जो क्रीडाशील[1] काम अग्नि (इन्द्रेण सरथं याति) आत्मा के साथ समानरथ-शरीर रथ में चलता है (वैश्वानरः) सब चलने वाले प्राणियो में रहने वाला (उत) अपि (विश्वदाव्यः) सबको परितापित करने वाला (यं सासहिं पृतनासु जोहवीमि) जिस बहुत दबाने वाली को पुनः पुनः अपने अन्दर पचाता हूँ, अनेक संग्रामो में उन अग्नियों के लिए यथोचित हवन हो ॥ ३ ॥

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥४॥

(यः-देवः-विश्वात्) जो क्रीडाशील सबको खा जाने वाला है (यम्-उ कामम्-आहुः) जिसे कामवासनारूप कामाग्नि कहते हैं (प्रतिगृह्णन्तं दातारम्-आहुः) लेते हुए को देने वाला कहते हैं-शरीर के सत्त्वरूप वीर्य बल को लेता है फिर भी उसे देने वाला मानते हैं कामीजन (यः-धीरः-शक्रः) जो शक्ति देने वाला, काम समय में उसकी पूर्त्ति हेतु निर्बल में भी शक्ति पैदा करने वाला (परिभूः) सब प्राणियों पर छाने वाला (अदाभ्यः) अदमनीय इन सब अग्नियों के लिये यथोचित होम प्रयोग उपाय हो ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

(यं त्वा होतारम्) जिस तुझ होता कल्याणदाता परमात्मा को (पञ्च मानवाः) पांच-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद-वनवासी भील

---

१ "दिवु क्रीडायां [दिवादिः] "यमु काममाहुः" [अथर्व ३ । २१ । ४]

(भौवनाः-त्रयोदश) भुवन-संवत्सर में होने वाले तेरह मासों में[1] (मनसा अभिसंविदुः) मन से विवेचन द्वारा समझते हैं-जानते है, उस (वर्चोधसे) तेज धारण कराने वाले (यशसे) यशोरूप[2] (सूनृतावते) शोभन वेदवाणी वाले परमात्मा के लिए उन सब अग्नियो के लिए यथायोग्य उपहार उपयुक्त प्रयोग हो ॥ ५ ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥

(उक्षान्नाय) सूर्य[3] से अन्न जो देता है ऐसे (वशान्नाय) पृथिवी से[4] जो अन्न देता है ऐसे (सोमपृष्ठाय) ओषधियो मे जिसने पोषण दिया है ऐसे (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः) वायु ज्येष्ठ श्रेष्ठ जिसने दिया है ऐसे (वेधसे) विधाता परमात्मा अग्नि के लिए (तेभ्यः-अग्निभ्य-एतत् हुतम्-अस्तु) उन सब अग्नियों के लिए यथायोग्य हवन प्रयोग हो ॥ ६ ॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥७॥

(ये दिवं पृथिवीम्-अन्तरिक्षम्-अनु सञ्चरन्ति) जो अग्नि-अग्निरूप परमात्मा या परमात्मतेज शक्तिया द्युलोक-सूर्य के प्रति, पृथिवी के प्रति, अन्तरिक्ष के प्रति उनके स्थिति स्थापक रूप मे सञ्चार करता है या करती है (विद्युतम्-अनु) विद्युत् के प्रति सञ्चार करता है या करती है (ये दिक्षु-

---

१ अत्र "सुपा सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्" इति वार्तिकेन सप्तमी स्थाने जस् । 'भवन्ति भूतानि यस्मिन् स सवत्सरः, तत्रभवाः मुख्या-द्वादशमासाः अधिमासश्च त्रयोदशः ।'

२ "यस्य नाम महद्यशः" [यजु०]

३ "उक्षा सूर्यः" [ऋ० ४ । ५६ । १ दयानन्दः]

४ "इयं पृथिवी वै वशा" [श० ५ । १ । ३ । ३]

अन्तः) जो दिशाओं के अन्दर (ये वाते-अन्तः) जो वायु के अन्दर सञ्चार करता या करती हैं, उस या उन अग्निरूप परमात्मा या परमात्मतेजः शक्तियों के लिए हवन यथायोग्य सेवन उपयोग हो ॥ ७ ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

(हिरण्यपाणि सवितारम्) सूर्य आदि हिरण्यमय या हिरण्य-मोक्ष जिसके पाणि-हाथ में है ऐसे उत्पादक (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिम्) वेदवाणी के स्वामी (वरुणम्) वरने योग्य तथा वरने वाले (मित्रम्) प्रेरक (अग्निम्) ज्ञानप्रकाश स्वरूप परमात्मा को (विश्वान् देवान्-अङ्गिरसः) सब दिव्य गुण वाले अङ्गों के रमरूप परमात्मा को (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं (इमं क्रव्यादम्-अग्नि शमयन्तु) इस मास खाने वाली कामाग्नि का शमन करे ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥

(क्रव्यात्-अग्निः-शान्तः) परमात्मदेव तथा उसकी विभूतियों को धारण करने से मनुष्य के जीवित मास को खाने वाली कामाग्नि शान्त हो गयी (पुरुषरेषणः शान्तः) मनुष्य की हिंसक कामाग्नि शान्त हो गयी (अथ-उ) और भी (यः-विश्वदाव्यः) जो विश्व को परितापित करने वाली कामाग्नि है (तं क्रव्यादम्-अशीशमम्) उस जीवित मनुष्य के मास को खाने वाली अग्नि को मैं शान्त करता हूँ ॥ ९ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

(पुष्करस्रजा-अश्विना) आकाश को मेघ से सर्जन करने वाले विद्युत् और वायु[1] (तावत्) उतना (वर्चः) तेजोबल (धत्ताम्) धारण करावें ॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

(यावत्) जितना (चतस्रः-प्रदिशः) चारों प्रमुख दिशाएं (वर्चः) तेजोबल रखती हैं (यावत्) जितना (चक्षुः समश्नुते) तेजोबल आंख सम्यक् प्राप्त प्रभावकारी दूरतक लिये हुए है (तावत्-हस्तिवर्चसम्) उतना हाथी का तेजोबल (मयि-इन्द्रियं समैतु) उतना मेरे में इन्द्रिय अर्थात् आत्मा का लिङ्ग अङ्ग बन प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाऽभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

(सुषदां-मृगाणाम्) सुख से बैठने-रहने वाले वन्य पशुओं में (हस्ती-अतिष्ठवान्) हाथी अत्यन्त स्थित बलवान्[2] (बभूव-हि) हुआ है । (तस्य-भागेन-वर्चसा) उसके भजनीय तेजोबल से (माम्) अपने को (अहम्-अभिषिञ्चामि) मै अभिषिक्त करता हूं ॥ ६ ॥

त्रयोविंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा
देवता—योनिः

---

१ "अश्विना वायुविद्युतौ" [यजुर्वेद २ । १ । ५८ दयानन्दः]
२ "बलेषु हस्तिवद्यामीनि" (योग दर्शन)
"हस्तिवत् आवेश की सिद्धि है ।"

येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ।
इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ॥ १ ॥

(येन) हे स्त्री ! जिस कारण से तू (वेहत्) गर्भपातिनी बन्ध्या (बभूविथ) हो गई (तत्) उसे (त्वत्) तुझ से (नाशयामसि) हम नष्ट करते है (इदं-तत्) इस उस दोष को (त्वत्) तेरे से (अन्यत्र दूरे) अन्यत्र दूर (अपनिदध्मसि) हटाते है ॥ १ ॥

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

(ते) हे स्त्री तेरी ! (योनिम्) योनि में-गर्भाशय मे (बाण इव-इषुधिम्) बाण के घर तरकस में बाण की भाँति (पुमान् गर्भः) पुत्र गर्भ (आ-एतु) आवे-प्राप्त हो (ते) तेरा (दशमास्यः) दस मास मे उत्पन्न होने वाला (वीरः पुत्रः) वीर पुत्र (अत्र) इस वश मे या इस घर में (अपनि अजायताम्) जन्मे ॥ २ ॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् ॥ ३ ॥

(पुमास पुत्रम्) हे देवी ! तू बालक सन्तान को (जनय) उत्पन्न कर (तम्-अनु) उसके पीछे फिर (पुमान्) बालक (जायताम्) उत्पन्न हो (जातानां पुत्राणाम्) उत्पन्न हुए पुत्रो की (माता भवसि) माता हो (च) और (यान्) जिनको (जनयाः) पुनः उत्पन्न करे उनकी भी माता हो ॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥

(ऋषभाः) ऋषभक ओषधियां (यानि च) जिन भी (भद्राणि बीजानि) भद्र गर्भबीजो को (जनयन्ति) उत्पन्न करती हैं (तैः) उनसे (त्वम्) तू (पुत्रम्-विन्दस्व) पुत्र को प्राप्त कर (सा) वह तू (प्रसूः-धेनुका भव) प्रसव होने वाली बच्चे को दूध पिलाती हुई-जीवितवत्सा हो ॥४॥

इस मन्त्र में 'ऋषभ' ओषधि का वर्णन है, अष्ट वर्ग की ऋषभक ओषधि का नाम ऋषभ है। 'ऋषभक' मे गर्भशक्ति देने के गुण है "जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमद्रिशिखरोद्भ वौ।.... ...ऋषभो वृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि ॥" (भाव प्रकाश नि०) "ऋषभको मधुः शीतो गर्भसन्धानकारकः। शुक्रधातु कफानां च कारको बलदायकः। (निघण्टु रत्नाकर) इन वचनों में 'ऋषभक' ओषधि को ऋषभ कहा है और उसे गर्भशक्ति देने वाली भी बतलाया है ॥ ४ ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥५॥

(नारि) हे स्त्री ! (ते) तेरे लिये (प्राजापत्यम्) प्रजापतिकर्म-सन्तानोत्पादक कर्म (कृणोमि) करता हूं (ते योनिम्) तेरी योनि मे-गर्भाशय में (गर्भः-आ-एतु) गर्भ प्राप्त हो (त्वम्) तू (पुत्रं विन्दस्व) पुत्र को प्राप्त कर (यः) जो (तुभ्यम्) तेरे लिये (शम्) कल्याणदायक (असत्) हो। और (त्वम्) तू (तस्मै) उसके लिये (शम्-उ) अवश्य कल्याणसाधक (भव) हो ॥ ५ ॥

यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

(यासां वीरुधाम्) जिन ओषधियों का (द्यौः पिता) द्युलोक मेघ जनक है (पृथिवी माता) पृथिवी धारिका-पोषिका है (समुद्रः-मूलम्) जलराशि मूल (बभूव) है (ताः दैवीः-ओषधयः) वे दिव्य ओषधियां (पुत्र-

विद्याय) पुत्र प्राप्ति के लिये (त्वा) तेरी (प्रावन्तु) रक्षा करें अथवा (समुद्रः-मूलम्) अन्तरिक्ष जिन का मूल है (ताः-देवीः-ओषधयः) वे दिव्य ओषधियाँ जल[1] (त्वा प्रावन्तु) तेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

इस मन्त्र में वृष्टि के जल बन्ध्या रोग की चिकित्सा के लिये उपयोगी बतलाए हैं ॥ ६ ॥

इस सूक्त में "ऋषभक" और 'वृष्टि के जल' से स्त्री के बन्ध्या रोग की चिकित्सा करने का विधान है। 'ऋषभक' को वृष्टि के जल से घिस कर-घोट कर सेवन करना चाहिये तथा इन के पृथक्-पृथक् सेवन करने से उक्त रोग दूर हो सकता है ऐसा भी समझा जा सकता है।

चतुर्विंश सूक्त

ऋषिः—भृगुः ।

देवता—वनस्पतिः, प्रजापतिः ।

पय॑स्वती॒रोष॑धय॒: पय॑स्वन्माम॒कं वच॑: ।
अथो॒ पय॑स्वतीना॒मा भ॑रे॒ऽहं स॑हस्र॒शः ॥ १ ॥

(पयस्वतीः-ओषधयः) प्रशस्त रस वाली[2] ओषधियाँ हों (अथ-उ) पुनः (पयस्वतीनाम्) रस वाली ओषधियों के (सहस्रशः-अहम्-आभरे) बहुविध-धान्य को[3] मैं आभरित करूँ जिनके सेवन से (मामकं वचः-पयस्वत्) मेरा वचन-स्तुति कथन रसवाला-प्रभावक हो ॥ १ ॥

---

१ "सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु" (यजु० ३६ । २३)

२ "पयस्वती पयः प्रशस्तो रसो विद्यते यस्या सा" [यजु० २ । २७ दयानन्दः]

३ "अगले मन्त्र में देखो।

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यंबहु ।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥२॥

(अहं-पयस्वन्तं वेदः) मैं रस वाले को जानता हूँ। (धान्यम् बहु-चकार) जो बहुत धान्य करता है (यः-देवः-नाम सम्भृत्वा) जो देव-मेघ धान्य को सम्भरण करने वाला, बरस कर सम्पुष्ट करने वाला है (तं वयं हवामहे) उस मेघ को हम अपनी ओर समय पर बरसने के लिये आमन्त्रित करते हैं-आकर्षित करते हैं (यः-यः) जो-जो हैं-जो कि (अयज्वनः-गृहे) यज्ञ-होम न करने वाले के घर में भी बरसा करता है, फिर हम तो यज्ञ करने वाले हैं कैसे हमें कृतार्थ न करेगा ॥ २ ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

(याः-इमा-पञ्च-प्रदिशः) जो ये पाँच प्रदिशाएं-राष्ट्र की चारों सीमाएं तथा राष्ट्र के मध्य वाली है उनमे (पञ्च-मानवाः-कृष्टयः) पाँच मानव कर्म वाली प्रजाएँ है[1] वे (वृष्टे-स्फातिम्-समावहन्) मेघ बरस जाने पर अन्न की स्फाति-वृद्धि-बहुतायत को सम्यक् प्राप्त करते है-भरपूर होते हैं (नदीः-शापम्-इव) जैसे नदियाँ बरसा हो जाने पर सुखदायक जल जिसमें है ऐसे पूर को[2] बहालाती हैं ।. ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यंसहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

---

१ "कृष्टयः कर्मवन्तो भवन्ति" [निरुक्त १० । २२]

२ शपः आपो यस्मिन् स शापः तं शापम्

(शतधारम् सहस्रधारं) सैकड़ों धारावाले सहस्रो धारा वाले (अक्षितम्) क्षयरहित (उत्सम्) मेघ को[1] (उत्) 'उत्पूरयति' परमात्मा जल से उत्पूरण करता-ऊपर वृष्ट कर देता है (एव) ऐसे ही (अस्माक) हमारा[2] (इदं धान्यम्) यह धान्य या धान्य स्थान-खेत (सहस्रधारम्-अक्षितम्) सहस्रो धाराओं दानो को धारण करने वाली बालो से युक्त ऊपर तक भरपूर हो ॥ ४ ॥

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥

(शतहस्त समाहार सहस्रहस्त सं किर) हे मानव ! तू वनस्पति की भाँति-जैसे वनस्पति-फलवान् वृक्ष सौ मूलभागो द्वारा भूमि से आहार रस लेता है और सहस्र शाखा भागो द्वारा फल प्रदान करता है ऐसे तू भी सौ हाथो द्वारा अन्यों से दान धन, गुण, शक्ति ले तो ऐसी स्थिति अपनी बना सहस्र हाथो वाला हो कर अन्यों को धन, गुण, शक्ति प्रदान कर; सो कैसे (कृतस्य-कार्यस्य च-इह) किए हुए और आगे किये जाने वाले कर्तव्य के बीच में (स्फातिं समावह) वृद्धि को सम्यक् प्राप्त कर वनस्पति ने अपने जीवन की लता को बढाया तब सैकड़ो मूलभागों द्वारा आहार लेकर सहस्र शाखा-भागो द्वारा फल प्रदान करने योग्य बना, ऐसे जीवन की लता को बढा ॥ ५ ॥

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥

---

१ 'अददरूत्सम' "उत्सरणाद्वोत्सदनाद्वत्स्यन्दनाद्वा" [नि० १० । १०]

२ मकार लोपश्छान्दसः

(गन्धर्वाणाम्) गौ-पृथिवी को धारण करने वाले सूर्य, वायु, अग्नि इन तीनों की[1] (तिस्रः-मात्राः) तीन मात्राएं-'तेज, जीवन, रसपाक' [गौ-पृथिवी में धारण करना, किसान का खेत जोतना, बीज बोना, खाद-जल देना, किसान का यत्न, रक्षा करना, काटना, गाहन-दाने अलग-अलग करना भी समझो] धान्य निर्माण करने की शक्तियाँ[2] (गृहपत्न्याः- चतस्रः) गृह-पत्नी की चार मात्राएं-धान्य निर्माण शक्तियाँ है-धान्य को पृथिवी के गर्भ में[3] रखना, पोषण देना, बाहिर अङ्कुरित करना, बढ़ाना-धारण करना (तासां या स्फातिमत्तमा) उनमे अत्यन्त वृद्धि वाली मात्रा-शक्ति है-फलप्राप्ति (तया त्वा-अभिमृशामसि) उससे हे धान्य-धान्यतरु तेरा अभिमर्श करते है पर्याप्त स्पर्श करते है ॥ ६ ॥

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

(प्रजापते) हे धान्य दाता प्राणि-प्रजा के पालने वाले-कृषक-किसान (ते) तेरे (क्षत्तारौ) तुझे तथा जनता की क्षत से त्राण कर्ता है (उपोहः-च समूहः-च) उपोहन करने वाला-धान्य को ऊपर से प्राप्त कराने वाला धान्य के पौधों से ले लेने वाला, दूसरा सम्यक् ऊहन करने वाला धान्य गाह कर धान्य दाने का बुस अलग करने वाला है यह समय पर ऐसा न करे, धान्य खेत में खड़ा बिखर जावे, पक्षी खा जावे बुस से धान्य अलग न करे तो धान्य की प्राप्ति न हो सके (तौ) ये दोनों (इह) यहाँ राष्ट्र में या घर में (स्फातिम्-बहुं-भूमानम्-अक्षितम्-आवहताम्) वृद्धि-समृद्धि को बहुत विभूति को क्षयरहित धान्य को समन्तरूप से लावे ॥ ७ ॥

---

१ त्रयो गन्धर्वाः, तेषां भक्ति । अग्नेः पृथिवी वायोरन्तरिक्षम्, आदित्यस्य द्यौः [य० २ । १४१]

२ "यदेव मिमित तस्मान्नाता" [श० ३ । ९ ४ । ८]

३ "सेयं पृथिवी देवानां पत्नी" [श० १ । ३ । १ । १५१]

पञ्चविंश सूक्त

ऋषि:—भृगुः ।

देवता—कामेषुः, मित्रावरुणी ।

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

(उत्तुदः) उत्पीडक कामभाव (त्वा) हे कामयुक्त कुमादी (त्वा) तुझे (उत्तुदतु) उत्पीड़ा करे-कर रहा है (स्वे-शयने) अपने शयनस्थान-विस्तरे पर (मा धृथाः) धैर्य को प्राप्त नही कर रहा है, ऐसी अवस्था में (कामस्य या भीमा-इषुः) कामभाव का जो भयङ्कर वाण (तया) उसके द्वारा (त्वा-हृदि-विध्यामि) तुझे हृदय मे ताड़ित करता हूँ जो तेरे कामभाव को पूरा करे ॥ १ ॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम् ।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

(आधीपर्णाम्) मानसी पीड़ारूप-पत्त फर वाले (कामशल्याम्) कामना-रतिभावनातीक्ष्ण अणि-नोक जिसमे है (सङ्कल्पकुलमलाम्) प्रवल इच्छा है मध्य-जोड जिसमे ऐसी (ता इषुम्) उस इषु-बाण (सुसन्नता कृत्वा) ठीक लगाकर (कामः) कामनावाला जन (त्वा हृदि विध्यतु) तुझे हृदय में ताड़ित करे ॥ २ ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता ।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

(या कामस्य-इषुः) जो कामभाव का बाण (सुसन्नता) ठीक लगा हुआ (प्लीहानं शोषयति) प्लीहा-हृदय भाग[1] सुखाता है (प्राचीनपक्षा-

---

१ "प्लीहा हृदयस्यावयवेन" [यजु० २५ । ८ दयानन्दः]

व्योषा) सामने पख रखने वाला विशेष दाहक बाण है (तया) उससे (त्वा हृदि-विध्यामि) तुझे हृदय में ताड़ित करता हूँ ॥ ३ ॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

(शुचा) शोकप्रद (व्योषया) विशेष दाहक कामबाण से (विद्धा) ताड़ित हुई (शुष्कास्या) सूखे मुख वाली हुई, तू हे कामातुरा (मा-अभि-सर्प) मेरे प्रति प्राप्त हो (मृदुः) कोमल स्वभाव वाली-बन-सरल बन (निमन्युः) न्याक्-पृथक् कृत क्रोध वाली अब उत्तेजनारहित हुई (केवली) एकाश्रय-एक पति के आश्रय वाली (प्रियवादिनी) पति के प्रति मीठा हितकर बोलने वाली (अनुव्रता) अनुकूल विचार क्रिया वाली हो ॥ ४ ॥

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

(त्वा यथा-आ-अजन्या) तुझे समन्तरूप से अजनी-सन्तान जनन[1] रहित जायापन रहित अन्य की जाया न होती हुई पूर्ण ब्रह्मचारिणी कुमारी के साथ (मातुः-अथ-उ-पितुः-परि-आ-अजामि) माता और पिता की पहिचान में विवाह कर लाया हूँ (यथा) जिस से (मम क्रतौ-असः) मेरे कर्म-गृहस्थ कर्म में सहयोगिनी रह-हो (मम चित्तम्-उपायसि) मेरे चित्त को प्राप्त हो मेरे अनुकूल चल मेरी प्रिया बन ॥ ५ ॥

व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

(मित्रावरुणौ) हे स्नेह तथा रक्षण करने वाले प्राण उदान के समान पारिवारिक स्त्री-पुरुषो[2] (अस्यै) इस वधू के लिये (हृदः-चित्तानि) हृदय-

---

१ "जनीनाम् जायानाम्" [निरुक्त १२ । ४६]

२ "मित्रावरुणौ प्राणोदानाविव स्त्रीपुरुषौ" [ऋ० ६ । ४२ । ५ दयानन्दः]

हितभावनाऐ और हितचिन्ताऐ (वि-अस्यतम्) विशेषरूप से प्रेरित करो-प्रदान करो (अथ-एनाम्-अक्रतुं कृत्वा) और इसको मुझ से भिन्न सङ्कल्प-कामनारहित या मुझ से भिन्न कर्म-मेरी जानकारी के विना अपना कर्म न करने वाली (कृत्वा) बनाकर (मम-एव वशे-कृणुतम्) मेरे वश में-मेरे कमनीय सङ्कल्प में या कार्य में करो-बनाओ ॥ ६ ॥

षड्विंश सूक्त

ऋषि —अथर्वा

देवता—साग्नयो हेतयः; सकामा-अविष्यवः; अवयुक्ता वैराजः; सवाताः प्रविध्यन्तः; सौषधिका निलिम्पाः; बृहस्पति युक्ता अवस्वन्तः

ये॒३॑ऽस्यां स्थ प्राच्यां॑ दि॒शि हे॒तयो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो अ॒ग्निरिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ व॒ः स्वाहा॑ ॥१॥

(अस्या प्राच्या दिशि) इस पूर्व दिशा में (ये हेतयः-देवाः-नाम स्थ) जो शत्रुओं के घातक वज्रादि शस्त्राशस्त्र वाले सैनिक[1] जिगीषु-विजयशील प्रसिद्ध हो (तेषां वः-इषवः-अग्निः) उन तुम्हारे चलने वाले बाण अग्नि है अग्नि के सदृश जलाने वाले या तापक है (ते) वे तुम (नः-मृडत) हमे सुख प्रद होवें (ते) वे तुम (नः-अधिब्रूत) अधिभाषण करो-सावधान करो या हमारी रक्षा का आश्वासन दो या साहस वचन बोलो (वः-तेभ्यः-नमः) उन तुम्हारे किये अन्नादि पदार्थ है (वः-स्वाहा) तुम्हारे लिये साधुवचन है ॥ १ ॥

ये॒३॑ऽस्यां स्थ दक्षिणायां दि॒श्यवि॒ष्यवो॒ नाम॑
दे॒वास्तेषां॑ व॒ः काम॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ व॒ः स्वाहा॑ ॥२॥

---

१ "हेतयः-वज्रादिशस्त्राशस्त्रयुक्ताः सेनाः" [यजु० १० । ११ दयानन्दः]

(अस्यां दक्षिणायां दिशि) इस दक्षिण दिशा में (ये अविष्यवः-देवा.-नाम स्थ) जो रक्षण इच्छुक सेना के भी रक्षक विजयशील प्रसिद्ध हों (तेषां वः-इषवः-कामः) उन तुम्हारे चलने वाले वाण काम के समान अन्तः करण को भस्म करने वाले या अचेत या व्याकुल करते हैं (ते नः ······) वे तुम हमें सुखी करो हमें सावधान करो आश्वासन दो साहस वचन बोलो तुम्हारे लिये अन्नादि हैं और साधुवचन हैं ॥ १ ॥

ये३स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा

नाम देवास्तेषां वः आप इषवः ।

ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥३॥

(अस्या प्रतीच्यां दिशि) इस पश्चिम दिशा मे (ये वैराजाः-देवाः-नाम स्थ) जो वरुणशक्तिसम्पन्न वारुण अस्त्र प्रयोक्ता[१] विजयशील प्रसिद्ध हों (तेषां वः-आपः-इषवः) उन तुम्हारे 'आपः' जल चलने वाले बाण है (ते नः······) वे तुम हमें सुखी करो, हमें सावधान करो साहस वचन बोलो आश्वासन दो तुम्हारे लिये अन्नादि हैं और साधुवचन है ॥ ३ ॥

ये३स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो

नाम देवास्तेषां वो वात इषवः ।

ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥४॥

(अस्याम्-उदीच्यां दिशि) इस उत्तर दिशा में (ये प्रविध्यन्तः-देवाः-नाम स्थ) जो प्रकृष्ट या प्रबलरूप से शत्रुओं का ताडन करने वाले विजयशील प्रसिद्ध हों (तेषां नः-इषवः-वातः) उन तुम्हारे चलने वाले बाण वात झञ्झा-वात प्रबल वायुप्रहार चलने वाले हैं (ते नः······) वे तुम हमें सुखी करो

१ वरुणस्य विराट्-विराजः [तै० आ० ३ । ९ । २]

हमे सावधान करो साहस वचन बोलो आश्वासन दो तुम्हारे किये अन्नादि पदार्थ और साधुवचन है ॥ ४ ॥

येऽ॒स्यां स्थ ध्रु॒वायां॒ दि॒शि नि॑लि॒म्पा
नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वः॒ ओष॑धी॒रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥५॥

(अस्यां ध्रुवायां दिशि) इस ध्रुवा-पृथिवी की दिशा में (ये निलिम्पाः-देवाः-नाम स्थ) जो निलिम्पन शत्रुओ को-अन्दर अस्त्र चुभोने में कुशल विजयशील प्रसिद्ध हों (तेषां वः-इषवः-ओषधीः) उन तुम्हारे चलने वाले बाण ओषधि-विषयुक्त वस्तुए हैं (ते नः······) वे तुम हमें सुखी करो सावधान करो साहस वचन बोलो आश्वासन दो तुम्हारे लिये अन्नादि पदार्थ और साधुवचन है ॥ ५ ॥

येऽ॒स्यां स्थोर्ध्वायां॑ दि॒श्यव॑स्वन्तो॒ नाम॑
दे॒वास्तेषां॑ वो॒ बृह॒स्पति॒रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥६॥

(अस्याम्-ऊर्ध्वायां दिशि) इस ऊपर की दिशा में (ये-अवस्वन्तः-देवाः-नाम स्थ) जो रक्षा साधन वाले विजयशील प्रसिद्ध हों (तेषां वः-बृहस्पतिः-इषवः) उन तुम्हारे से चलने वाले बाण कड़कड़ाहट करने वाला अस्त्र फेंकने वाला है (ते नः········) वे तुम हमें सुखी करो हमें सावधान करो साहस वचन बोलो आश्वासन दो-तुम्हारे लिये अन्नादि पदार्थ और साधुवचन है ॥ ६ ॥

सप्तविंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा ।

देवता—प्राची, अग्निः, असितः, आदित्याः, २ दक्षिणा, इन्द्रः, तिरश्चिराजिः, पितरः ३ प्रतीची, वरुणः, पृदाकुः, अन्नम्, ४ उदीची, सोमः, स्वजः, अशनिः, ५ ध्रुवा, विष्णुः, कल्माषग्रीवः, वीरुधः, ६ ऊर्ध्वा, बृहस्पतिः, श्वित्रः, वर्षम् ।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो
नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

(प्राची-दिक्) प्राची दिशा है-रात्रि के पश्चात् सबसे प्रथम दीखने वाली दिशा, इसका (अग्निः-अधिपतिः) अग्नि अधिपति है "प्राची हि दिगग्नेः" [श० ६ । ३ । ३ । २] अर्थात् प्राची दिशा अग्नि की है वह प्राची दिशा में दीखने वाले सूर्य का कारण है जिसका पिण्डीभाव साकार स्वरूप पिण्ड सूर्य बन गया, इसका-(असितः-रक्षिता) असित रक्षक है अग्नि को इस प्रकार पिण्डीभूत सूर्यरूप मे रखने वाला असित-सित-शुक्ल असित कृष्ण नाम का सूर्यान्तर्गत एक भाग है, सूर्य में दो भाग है एक प्रकाशमान तेजोस्वरूप दूसरा अप्रकाशमान कृष्णरूप हैं[1] ये भाग सूर्य के अन्दर कृष्ण कन्द्राओं Sunspots के रूप में दिखलाई पड़ जाता है यही जल-जल कर सूर्य को गोल रूप में बनाये रखता है जैसे पृथिवी पर कोयलादि ईधन अग्नि को स्थिर रखता है इसके (आदित्याः-इषवः) आदित्य वर्ग इषु हैं हमारी ओर प्रेरित

---

१ "तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्योरूपं कृणुते द्योरुपस्थे । अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः संभरन्ति ॥" (ऋ० १ । ११५ । ५)

किये जाने वाले पृथिवी पृष्ट पर प्राप्त होने वाले पदार्थ हैं 'इष गतौ' धातु से इषु शब्द बना है 'इषेः किच्चे' [उण० १ । १३] यहाँ आदित्य से अभिप्राय सूर्यकिरणें तथा दिन रात के आठ पहर हैं[1] इस पूर्व दिशा से पृथिवी पृष्ट पर वस्तुरूप में किरणें और कालरूप दिन रात के आठ पहर प्राप्त होते हैं (तेभ्यां-नमः-अधिपतिभ्यो नमः-रक्षितृभ्यः-नम इषुभ्यः-नम एभ्यः-अस्तु) उन अधिपति रक्षिता और इषुओं के लिये नमन अर्थात् उनके प्रति उपयोगप्रवृति हमारी हों यहाँ पर बहुवचन एक वचन में छान्दस है (यः-अस्माद् द्वेष्टि यं वयम्-द्विष्मः-तं-वःजम्भे दध्मः) जो हमसे द्वेष करता है या जिस द्वेष करने वाले के प्रति हम द्वेष करते हैं उसे तुम्हारे नाशक साधन में "जभि नाशने" [चुरादि] में रखते हैं ॥ १ ॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो
नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

(दक्षिणा दिक्) दक्षिण हाथ की ओर दिशा दक्षिण है । "दक्ष गति-वृद्धयोः" (भ्वादि) जलप्रवाह इधर गति करते रहते हैं । इस दिशा में (इन्द्रोधिपतिः) इन्द्र अधिपति है । समुद्र में आन्दोलनरूप गति वायु के झोके से होती है । "वायुर्यद् दक्षिणतो वाति मातरिश्वैव भूत्वा दक्षिणतो वाति" 'तै० ३२ । ३ । ५ ॥' "यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायु" उस समुद्र के प्रेरक वायु का नियन्त्रण करने वाला (तिरश्चि राजी रक्षिता) अन्तर्हित पंक्तियाँ बनाने वाला वातावर्त रक्षक है । "तिरोऽन्तरञ्चन्तीति

---

१ "एताभिर्वा आदित्या द्वन्द्वमाध्नुवन् मित्रश्च, वरुणश्च, धाता चार्यमाच, भगश्च, अंशश्च, इन्द्रश्च, विवस्वांश्च" ॥ [तां० २४ । १२ । ४]

तिरश्चय:, तिरश्चयोऽन्तर्गति प्रेरका राजय: पंक्तयो यस्य यस्मिन् वा स तिरश्चि राजि:" "तिरोऽन्तर्दधाति" (निरु० १२ । ३२) उस तिरश्चिराजी नामक वायु मण्डल के केन्द्र में वर्त्तमान आन्तरिक आवर्त के (पितर:-इषव:) पितर अर्थात् ऋतुएं पृथिवी पृष्ठ पर पहुँचने वाले पदार्थ "षड् वा ऋतष: पितर:" (श० ९ । ४ । ३ । ८) दक्षिण से ऋतुए आती है। "पितरो दक्षिणत: आगच्छन् (जै० उ० २ । ७ । २) वायु ही ऋतुओ को प्रकट करता है (तस्माद्यथर्तु वायु: पवते) (ता० १० । ९ । २) ऋतुसचार दक्षिण से होता है। दक्षिण से औषधियाँ पकती हुई आती है। "दक्षिणतोऽग्रे-ओषधय: पच्यमाना जायन्ते" (ऐ० ब्रा० १ । २) (तेभ्यो:-नम:) पूर्व की भाँति समझें। (योऽस्मान् द्वेष्टि) पूर्ववत जाने ॥ २ ॥

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो
नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

(प्रतीची दिक्) प्रतीची दिशा है अर्थात् पीछे तक दीखने वाली दिशा सूर्य के अस्त होने के समय प्रकाश को दिखाती हुई दिशा है इस मे (वरुण:-अधिपति:) वरुण अधिपति है इस दिशा में चन्द्रमा प्रथम उदित होकर बढ़ता हुआ ठण्डी चन्द्रिका-चान्दनी फैलाता है इस प्रकार शीतल जल का सूक्ष्म स्वरूप देव अधिपति है "आपो यच्च वृत्वाऽतिष्ठं स्तद्वरुणोऽभवत् वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण" [गो० पू० १।७] "प्रमाणंवलना भीष्टग्रासादिहिमरश्मिवत्" [सूर्य सिद्धान्त । सूर्य ग्रहणअधिकार १३] इसे पिण्डरूप देने का (पृदाकु:-रक्षिता) पृदाकु रक्षक है-आधार-है पृदाकु नाम का हिमाच्छादित बरफीला पर्वत रूप चन्द्र लोकान्तर्गत एक भाग है। मन्त्रब्राह्मण में कहा है "यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्" [मन्त्र ब्रा० १ । ५ । १३]

पृथिवी का हृदय अर्थात् वक्षःस्थल पर्वत है एव चन्द्रमा मे कृष्ण भाग पर्वत है पृदाकु अजगर को कहते है पर्वत की आकृति भी अजगर जैसी होती है। वैदिक साहित्य में पर्वत और अहि को मेघ के अर्थ में पर्याय भी माना हुआ है। पृदाकु का यौगिक अर्थ है कुत्सित शब्द करने वाला "पर्दे-र्नित्सम्प्रसारण-मलोपश्च" [उणा० ३ । ८०] "पर्द-कुत्सिते अर्थे" [भ्वादि] "नित्त्वाद्-ञ्नित्यादिर्नित्यम्-इत्याद्युदात्तः" ।

इस के (अन्नम्-इषवः) अन्न इषु है अर्थात् हमारी ओर प्रेरित किये जाने पृथिवी पृष्ठ पर प्राप्त होने वाले पदार्थ है। चाद की चंद्रिका में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया आदि क्रम से पूर्णिमा तक पहुँचती है पुनः कम होते होते अमावस्या तक जाती है इस प्रकार, शुक्ल पक्ष और-कृष्ण पक्ष की तिथियों में चन्द्रिकाओ से युक्त एक भासमान स्वरूप चित्रित होता है जो हमतक या पृथिवी पृष्ठ तक पहुँचे इषु है इसी का नाम चन्द्रमा है और इसी को अन्न भी कहते है। "अन्नं वै चन्द्रमाः" [तै० ३ । २ । ३ । ४] "अथो चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदशः स च पञ्च दशाहान्यापूर्यतेपञ्चदशापक्षीयते तद्यत्तमाह भान्तरति भाति हि चन्द्रमाः" [श० ८ । ४ । १ । १०] सूर्य से जैसे अग्नि की किरणें उष्ण किरणें पृथिवी पर पहुंचती हैं एवं उसके प्रतिकूल चांद से हिम किरणें, भाप की किरणें पृथिवी पर पहुँचती हैं। चांद की चांदनी से ओस का बरसना प्रत्यक्ष है ही। पृथिवी सूर्य से सूर्य कान्त के द्वारा, अग्नि जल पड़ती है एवं चांद से चन्द्रकान्त के द्वाराजल झिरने लगता है। (तेभ्योः-नमो) पूर्ववत्। (योऽस्मान् द्वेष्टि) पूर्ववत् ॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो
नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

(उदीची दिक्) ऊपर उठी हुई उत्तर दिशा उदीची है भूवृत्त से ऊपर उठी हुई, उत्पन्न होती हुई पृथिवी इतनी ठोस नहीं थी ध्रुवीय आकर्षण से विद्युत् से भरा पृथिवीभाग ऊपर उठगया और जल भाग नीचे दक्षिण के महागर्त समुद्र में जा गिरा वह समुद्र पृथिवी के समतल में हो गया अत एव किसी भी पर्वत आदि ऊँचे भाग समुद्र के समतल से मापे जाते है, इस उदीची दिशा में (सोमः-अधिपतिः) सोम अधिपति है इस ऊँची दिशा में पहुँचने पर नक्षत्र मण्डल ध्रुव सूत्र में पिंजरे के समान लटका हुआ चमचमाता हुआ घूमता हुआ दिखाई पड़ता है। "नक्षत्राणां वा एषा दिग्यदुदीची" [ष० ३ । १] क्या सप्त ऋषि तारे क्या अन्य नक्षत्र और सितारे सभी सहस्र सूत्रों में लटकती घूमती हुई चमकती मणियों की भांति एक केन्द्र बनाकर चक्र रूप में नृत्य कर रहे हैं। कितना सुन्दर शान्त ज्योति का इस दिशा में राज्य है। यही तो सोम है "ज्योतिः सोमः" [श० ५ । १ । २ । १०]। इस ज्योतिश्चक्र का (स्वजोः-रक्षिता) स्वज रक्षक है। लिपटने तथा दूसरे को अपने साथ लपेटने वाला चुम्बक भण्डार रूप ध्रुव रक्षक-नियन्त्रक है, ८ "अभिष्वङ्गे" [भ्वादि०] तथा जो शक्ति का आगार है। वही समस्त नक्षत्र पिंजरे को अपने साथ लटकाए लपेटे हुए और इनके साथ लिपटे हुए हे। "मित्रावरुणो त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै" [श० १ । ३ । ४ । ४] इस स्वजनामक चुम्बकीय शक्तिभण्डाररूप ध्रुव के (अशनिरिषवः) अशनि इषु है। हमारी ओर प्रेरित किए जाने वाले हम तक पृथिवी पृष्ठ पर पहुँचने वाले पदार्थ हैं। वही विचारशील मनुष्य देखता है कि उत्तर दिशा में विद्युत् अधिक चमकती है "अथैतस्यामुदीच्यां दिशि भूयिष्ठं विद्योतते" [ष० २ । ४] तथा ऊँचे पर्वतों से बरफ के गल गल कर झरने नीचे वेग से गिरते चले आते हैं इनके अन्दर वेग शक्ति है जो इन्हें बहाए लिये

चली आ रही है यह वेग शक्ति ही विद्युत् है। यह उत्तर से वही चली आ रही है जो सूक्ष्मरूप में समस्त पृथिवी पृष्ठ पर फैलती है वह शक्ति ऊँचे से गिरते हुए जल प्रवाहों से विद्युत् रूप में उत्पन्न भी की जाती है। न केवल इतना ही वे व्यापने वाली विद्युत् की लहरें इस पृथिवीगोल में व्याप्त होकर इसे लट्टू की भाति ध्रुव केन्द्र पर निरन्तर घुमाती रहती हैं। यही घूम उत्तरायण और दक्षिणायन अर्थात् एक सवत्सर को बनाती हैं मानो वही व्यापने वाली विद्युत् ही संवत्सर शक्ति में [गारण्टी या इनर्जी में] प्राप्त होती है। यही व्यापने वाली विद्युत् ही अशनि है "विद्युद्वा अशनिः" [श० ६ । १ । ३ । १४] निःसन्देह पृथिवी को इस प्रकार स्वकेन्द्र पर घुमाने के लिये उत्तरदिशा में स्थित ध्रुव से विद्युत् की लहरें आती हैं कहा भी है "उदीची दिक् मित्रावरुणौ देवता" [तै० । ३ । ११ । ५ । २] "मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्ता ध्रुवेण धर्मणा-विश्वस्यारिष्ट्यै" [श० १ । ३ । ४ । ४] ॥ (तेभ्योः-नमो) पूर्ववत् । योऽस्मान् द्वेष्टि पूर्ववत् ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो
नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

(ध्रुवा दिक्) नीचे पृथिवी की दिशा ध्रुवा दिक् है "पृथिवी ध्रुवा" [तै० ३ । ३ । १ । २] यह नीचे की दिशा निश्चल है स्तब्ध है इस दिशा में (विष्णुः-अधिपतिः) विष्णु अधिपति है पृथिवी का स्पर्श करने से धूल या मिट्टी लग जाती है आगे खोदने पर जमी हुई मिट्टी निकलती है और धीरे-धीरे ठोस नीचे मिलती जाती है। इससे स्पष्ट होता है वह सूक्ष्मरूप धूलि से बना पृथिवीपिण्ड है। ज्योतिष् शास्त्र में कहा भी है "मृद्भूः" [आर्यभट्टीय

गीतिकापाद]। मृदु बारीक मिट्टी है सूक्ष्म मृत्तिका ही भूलोक है यह धूलि रूप सूक्ष्म भाग ही विष्णु है जो पृथिवी गोल बनने से पूर्व आकाश में फैला हुआ होने से विष्णु कहा गया है। इस विष्णु अर्थात् सूक्ष्म धूलि भाग का (कल्माषग्रीवः-रक्षिता) कल्माषग्रीव रक्षक है। भूगर्भ में वर्तमान गुरुत्व का आधार केन्द्रीय आग्नेय तत्त्व या अग्नि रक्षक नियन्त्रक है। शतपथ में अग्नि को असितग्रीव कृष्णग्रीवा वाला कहा है "अग्निर्वा असितग्रीवः" [श० १३। २। ७। २] कृष्ण को असित कहा है और कल्माष का कृष्ण अर्थ शब्दकल्पद्रुम में दिया है "कल्माषः कृष्णे" [शब्द कल्पद्रुमः] इस भूगर्भस्थ अग्नि के (वीरुधः-इषवः) वीरुधइषु है। हमारी ओर प्रेरित किये जाने वाले हम तक पृथिवीपृष्ठ पर पहुँचने वाले पदार्थ हैं। विचारशील मनुष्य पृथिवीपृष्ठ पर ओषधि वनस्पतियां अन्दर से बाहर फूट रही है यह प्रत्यक्ष देखता ही है। "वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्" [निरु० ६। ३]। (तेभ्योः-नमो) पूर्ववत्। (योऽस्मान् द्वेष्टि) पूर्ववत् ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो
नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

(ऊर्ध्वा दिक्) ऊपर की दिशा है। इस दिशा में (बृहस्पतिः-अ[illegible]) बृहस्पति अधिपति है। "बृहस्पते ब्रह्मणस्पते" [तै० ३। १। ४] "ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम" [तै० ३। ९। ५। ५] ध्वनि के परम आकाश अर्थात् मेघमण्डल का कारणरूप पति का नाम बृहस्पति है।

जो सूक्ष्म अभ्रमय आकाश या सूक्ष्म भाप रूप जल को संभालने वाले तापयुक्त गगन मण्डल का नाम बृहस्पति है। मेघ मण्डल का कारण सूक्ष्म वाष्पमय गगन बृहस्पति है। इस मेघ मण्डल का (श्वित्रः-रक्षिता) श्वित्ररक्षक है अर्थात् शुल्कभारूप विद्युत् है ऊपरमेघ मण्डल में तीन बातें हैं सूक्ष्म फैले हुए जल, विद्युत् और वर्षा। सो तीनों बातें इस मन्त्र में बृहस्पति, श्वित्र और वर्ष नाम से कही गयी है "आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोवन्तु सुदानवः" [अथर्व० ४। १५। ९] यहां क्रमशः तुलना के लिये स्पष्ट कहा है कि प्रथम 'आपः' सूक्ष्म फैले हुए जल पुनः 'विद्युत्' फिर विद्युत् के विकास के साथ 'अभ्र' अर्थात् घनत्वरूप मेघ मण्डल, पश्चात् वर्षा होती है। श्वित्र विद्युत् के (वर्षम्-इषवः) वर्षा इषु हैं हमारी ओर प्रेरित किये जाने वाले पृथिवी पृष्ठ पर पहुंचने वाले पदार्थ है। "यत्ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः" [ऋ० ५। ८४। ३]। (तेभ्योः-नमो) पूर्ववत्। (योऽस्मान् द्वेष्टि) पूर्ववत्।

आध्यात्मिक दृष्टि में—

अग्नि आदि अधिपतियों के अधिकृत जो यह समस्त विश्व है उसका बनाने वाला एक देव परमेश्वर है। कहा भी है "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" वह सर्वत्र इस विश्व में व्यापक है। यह विश्व उसका कार्य है जैसे किसी शिल्पी का कार्य कोई यन्त्र (मशीन) होता है। यन्त्र या मशीन अपने बनाने वाले शिल्पी के जहां अस्तित्व सत्ता वर्तमानता को सिद्ध करता है साथ मे उसके गुणों पर भी प्रकाश डालता है कि उसका बनाने वाला कितना

इन छहों मन्त्रो में आए असित से लेकर श्वित्र पर्यन्त रक्षिताओं के अर्थ सायण तथा कोई कोई विद्वान् सांप करते है। इसका विवेचन हमने "वेद में असित शब्द पर एक दृष्टि" पुस्तक में किया है। वहां देख सकते है।

योग्य तथा कितना विज्ञ और कुशल है। परन्तु मशीन या यन्त्र के बनाने वाला शरीरधारी है साकार है उसकी सत्ता मशीन से अलग अवकाश में रहती है। किन्तु विश्वरूप यन्त्र को बनाने वाला परमेश्वर सर्वव्यापक होने से वह उसके अन्दर रमा हुआ है। अत एव विश्व मे जो दिव्य गुण या दिव्य शक्तियां हैं। वे सब उसके बोधक हैं क्या अग्नि में प्रकाश और क्या वायु में वेग सब उसी की महिमा है। कहा भी है "एतावानस्य महिमा" [ऋ० १० । ९० । ३] उसी की ज्योति या सत्ता से सब की ज्योति और सत्ता है।" "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" [कठोपनिषद्] इसलिये वह छहों दिशाओं में वर्तमान अधिनायक अग्नि का अग्नि, इन्द्र का इन्द्र, वरुण का वरुण, सोम का सोम, विष्णु का विष्णु, और बृहस्पति का बृहस्पति है। इन अग्नि आदि नामों से उस परमेश्वर का वर्णन किया जाता है। जैसा कि वेद में कहा है "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधावदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥" [ऋ० १ । १६४ । ४६] वह परमेश्वर एक है परन्तु विद्वान् लोग उसको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, यम, वायु आदि अनेक नामों से वर्णन करते है। अस्तु। अब हम अग्नि आदि पृथक् पृथक् नामों से परमेश्वर का वर्णन वेद में आता है यह दिखलाते हैं।

अग्नि—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव।
वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो।
भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम॥

हे अग्ने अर्थात् प्रकाश स्वरूप परमेश्वर तू हमें सुखैश्वर्य प्राप्ति के लिये सत्य पथ से ले चल क्योंकि तू ही समस्त प्रज्ञानों को जानने वाला है। कृपया हमसे असरलता और दोष को दूर कर दे अत एव हम तेरी सेवा मे बहुत बहुत करके नमस्कार की उक्तियां अर्पित करते हैं।

इस मन्त्र में सर्वज्ञ परमेश्वर को अग्नि नाम से कहा है।

इन्द्र—

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ॥

[अथ० २० । ११८ । ४]

इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ने अपनी महिमा से विभुता से द्यावा-पृथिवी को सबल रूप में फैलाया, उसी इन्द्ररूप परमेश्वर ने सूर्य को प्रकाशमान किया। उसी के अन्दर समस्त लोक लोकान्तर और उत्पत्ति के सूक्ष्म द्रव्य नियन्त्रित हुए रखे है।

यहाँ विश्वरचियता और विश्व का नियन्त्रण करने वाले परमेश्वर को इन्द्र नाम से कहा है ॥

वरुण—

उत स्वया तन्वा संवदेतत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम् ॥

[ऋ० ७ । ८३ । २]

मै अपनी देह के साथ संवाद करता हूँ कि तुझे धारण करके वरुण अर्थात् विश्व को वरने वाले तथा वरणीय परमेश्वर के अन्दर कब स्थिर होऊ। वह मेरे किस समर्पण को अपनाता हुआ स्वीकार कर सकता है तथा मैं कब शान्तमन हो उस सुख स्वरूप को साक्षात् कर सकूँगा।

इस मन्त्र में विश्व के वरने वाले तथा वरणीय उपास्य परमेश्वर को वरुण नाम से कहा है

सोम—

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्ने र्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

[साम पू०, ६ । ४ । ३]

सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः ॥

[ऋ० ५ । ५१ । १२]

सोम अर्थात् उत्पादक परमेश्वर विश्व में प्राप्त है जो मनुष्यों को उत्पन्न करता है द्युलोक, पृथिवी लोक, अग्नि, सूर्य, विद्युत् तथा भूपरिमण्डल को उत्पन्न करता तथा विश्व का स्वामी है ।

यहाँ सूर्य आदि के उत्पन्न करने वाले विश्व के स्वामी परमेश्वर को सोम कहा है ।

विष्णु—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरु गाय ॥

[ऋ० १ । १५४ । १]

मैं विष्णु अर्थात् व्यापक परमेश्वर के गुण कर्मों का प्रवचन व्याख्यान करता हूं जिसने पार्थिव लोक प्रकाश रहित लोकों और प्रकाशमान द्युमण्डल को सम्भाला हुआ है जो तीनो लोकों या त्रिभुवन में विभुगिति से प्राप्त और अत्यन्त कीर्तन योग्य है ।

इस मन्त्र में द्यावापृथिवीमय जगत् के रक्षक तथा उसमें व्यापक परमेश्वर को विष्णु नाम से कहा है ।

बृहस्पति—

यन्मेछिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाति तृण्णं बृहस्पतिर्मे
तद् दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

[यजु० ३६ । २]

जो मेरे नेत्र का हृदय का मन का छिद्र खुल गया है उसे बृहस्पति अर्थात् बड़े बडे लोकों का रक्षक परमेश्वर पूर दे भर दे जो कि विश्व का स्वामी है वह मेरे लिये सुख रूप हो ।

इस मन्त्र में जगत् के स्वामी परमेश्वर को बृहस्पति नाम से कहा।

इस प्रकार इन प्रमाणों से आध्यात्मिक अर्थों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, विष्णु, बृहस्पति शब्द छहों दिशाओं में व्यापक परमेश्वर के वाचक हैं। शेष 'असितः' आदि रक्षिता और 'आदित्याः' आदि इषुओं के अर्थ वैसे ही रहेंगे जो पूर्व आधिदैविक अर्थ कर आए हैं। यहां आध्यात्मिक अर्थों में केवल एक अलङ्कार की योजना ही करनी है। वह इस प्रकार कि—

मनुष्य इस संसार में क्या आया मानो एक संघर्ष क्षेत्र में या संग्राम स्थल में कूदा है वह अपने जीवन-विजय के लिये उतरा है सर्वत्र छहों दिशाओं मे उसके जीवन घातक चेतन और जड़ शत्रु विद्यमान है वह उनसे संघर्ष लेने तथा बचने के लिए किसी को अपनी पृष्ठ पर देखना चाहता है उसकी शरण लेना चाहता है तब उसके ध्यान में एक अधिनायक आता है जो छहों दिशाओं मे उसकी सहायता करता हुआ जान पड़ता है जिसे अग्नि आदि नामों से अधिपति कहा गया है, वह कैसे सहायता करता है 'आदित्यः' आदि इषुओं (बाणों) के द्वारा। इन इषुओं बाणों का इषुधि-तूणीर-तरकस या इषुओं के रखने का पात्र कौन हैं जिनमें से वह इषुओं को फैकता है वह इषुधि इषु रखने का पात्र जहाँ से उन्हें फैकता है वे है 'असितः' आदि रक्षिता अर्थात् इषुओं को रखने वाला या रखने का पात्र। वह विभुदेव परमेश्वर उसका अधिनायक पूर्व दिशा मे अग्निरूप से वर्त्तमान हुआ सूर्य के अन्दर असित (कृष्णपदार्थ) इषुधि मे से आदित्यों किरणरूप इषुओं को मनुष्य के जड़-चेतन शत्रुओं को परास्त करने के लिये फैकता है। एवं दक्षिण में इन्द्ररूप से वर्त्तमान हुआ वायव्य मण्डल में 'तिरश्चिराजि' (आन्तरिक गति देने वाले भंवर वस्तु) इषुधि में से पितरों ऋतुरूप इषुओं को, पश्चिम में वरुण रूप में वर्तमान हुआ चन्द्रलोक के अन्दर पृदाकु (जलस्तम्भक द्रव्य) इषुधि में से अन्न' चन्द्रिका रूप इषुओं को, उत्तर मे सोम रूप से वर्तमान हुआ ध्रुव के अन्दर स्वज (चुम्बक पदार्थ) इषुधि में से अशनि व्यापने वाली विद्युत् तरङ्ग रूप इषुओं को, नीचे विष्णु रूप से वर्तमान हुआ पृथिवी-गोल के अन्दर कल्माषग्रीव

(गुरुत्व का निमित्त कृष्णवर्त्मा केन्द्रिय अग्निवस्तु) इषुधि में से वीरुधों ओषधियों को और ऊपर वृहस्पति रूप में वर्तमान हुआ सूक्ष्म भापमय गगन में स्थित (श्वित्रविद्युन्मय) इषुधि में से वर्षा वृष्टि धारारूप इषुओं को फेंकता है । एवं छवों दिशाओं में सर्वत्र विराजमान वह विभु विश्वात्मा परमेश्वर मेरा सहायक है उसकी उपासना आराधना करते हुए उसकी सत्सङ्गति में रहते हुए इस संघर्ष क्षेत्र संसार मे निर्भयता के साथ जीवन का लाभ उठाना चाहिये ।

अष्टाविंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा ।

देवताः—यमिनी ।

छन्दः—१ अति शक्वरी गर्भा चतुष्पदाति जगती; २, ३ अनुष्टुप्; ४ यवमध्या विराट् ककुप्; ५ त्रिष्टुप् ६ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः ॥

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र
गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा
पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १ ॥

(यत्र) जहाँ (भूतकृतः) भूतो के करने वाले परमाणु (विश्वरूपाः गाः-असृजन्त) नाना रूपों वाली गौवों को सर्जन किया (एकैकया सृष्ट्या) वहाँ एक एक सृष्टि सन्तानोत्पत्ति की रीति से (एषा सम्बभूव) यह सृष्टि प्रकट हुई-होती है (यत्र) जहां (यमिनी-अपर्तु:-विजायते) जुड़वा बछड़े वाली ऋतु के विपरीत हुई विरुद्ध जनन करती है । (रफती रूशती) अपने को निन्दित करती हुई[1] हिंसित करती हुई पीडित होती हुई (पशून् क्षिणाति) अपने भावी पशुओं-बच्चों को क्षीण करती है ॥ १ ॥

---

१ "रिफकथन निन्दा०" [तुदादि०]

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

(एषा) यह यमिनी दो-जुड़वां बच्चे देने वाली गौ (पशून् क्षिणाति) अपने भावी पशुओं वंश को क्षीण करती है (वि-अद्वरी) विरुद्ध रूप अपनी सन्तति को खाने वाली (भूत्वा) होकर (क्रव्यात्) मांस खाने वाले के समान है (एनाम्) इसको (उत) अपितु (ब्रह्मणे दद्यात्) ब्रह्मा-चिकित्सक[1] के लिये देवे-सौंप दे (तथा स्योना शिवा स्यात्) जिससे स्वस्थ[2] कल्याणकारी हो ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

(पुरुषेभ्यः शिवा भव) मनुष्यों के लिये कल्याणकारी हो मनुष्य नारीं में तेरा जुड़वां बच्चों वाला रोग न पहुँचे (गोभ्यः-अश्वेभ्यः शिवा) गौवों के लिये घोड़ों-घोड़ियों के लिये शिवा-कल्याणकारी हो रोगमुक्त होकर गौओं घोड़ियों में तेरा रोग जुड़वां बच्चे देने का न फैले (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा नः-इह एधि) इस सब निवास, ग्राम, नगर, देश के लिये कल्याणकारो रोग-मुक्त हमारी हो जा ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

---

१ ब्रह्मा शब्द चिकित्सक के लिये आया है जैसे "देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः"० अथर्व० [२ । ९ ४] ब्रह्मा के साथ वीरुध-ओषधियां दी हैं तथा इससे पूर्व भी कहा है। "शत ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः०" [अथर्व० २ । ९ । ३]

२ स्योनामासीद सुषदामासीदेति शिवा-शग्मामासीदेत्ये वैतदाह ।
[श० ५, ४, ४, ४]

(यमिनि) हे जुड़वां बच्चो वाली (इह पुष्टिः) तुझ रोगमुक्त हुई के द्वारा यहाँ हमारे में पोषण हो (इह रसः) यहां जीवन रस हो (इह सहस्रसातमा भव) यहाँ बहुत प्रकार से सुख देने वाली हो (पशून् पोषय) स्वस्थ हुई अपने बच्चों को पुष्ट कर ॥ ४ ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्व१ः स्वायाः॑ ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त् पुरु॑षान् प॒शूंश्च॑ ॥५॥

(यत्र) जहाँ (सुहार्दः) शोभन हृदय वाली (सुकृतः) शोभन कार्य वाली जनहित साधने वाली स्वस्थ गौएं (स्वायाः-तन्वाः-रोगं विहाय मदन्ति) अपनी देह के रोग को छोड़कर रोगरहित गौऐं आनन्द करती है मनुष्यों को आनन्द देती है (तं लोकम्) उस गोस्थान-गोष्ठ को (यमिनी) जुड़वां बच्चे वाली गौ (अभिसम्बभूव) रोगरहित सम्प्राप्त हो निवास कर (सा) वह जुड़वा बच्चे देने वाली न हो (नः पुरुषान् पशून् मा-हिसीत) अब हम मनुष्यों पशुओ को नही हिसित कर-करेगी स्वस्थ हुई जुड़वा बच्चे देने वाले रोग को स्त्रियों गौओ मे नं फैला सकेगी ॥ ५ ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दां॑ सु॒कृता॑मग्निहोत्र॒हु॒तां॒ यत्र॑ लो॒कः ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त् पुरु॑षान् प॒शूंश्च ॥६॥

(सुहार्दां सुकृतां यत्र लोकः) शोभन हृदयवालियों-रोग रहित शान्त हृदयवालियों का तथा जनहित साधने वालियों का जहाँ संघात-सङ्घ[1] है (अग्निहोत्रहुतां यत्र) अग्नि होत्र अपने घृत से हुत होम रही है ऐसी गौओं का जहाँ सङ्घ है (तं लोकम्) उस गौसङ्घ को-गोष्ठ को (यमिनी) जुड़वां बच्चा देने वाली स्वस्थ हुई गौ (अभिसम्बभूव) सम्प्राप्त कर (सा) वह (नः-पुरुषन् पशून् मा हिंसीत्) हम मनुष्यों को-स्त्रियों को अन्य गौ अदि पशुओं को पीड़ा न पहुँचा-पहुँचाती हैं ॥ ६ ॥

---

१ "लोकाः संघाताः" [यजु० २०-३२]

एकोनत्रिंश सूक्त

ऋषिः—उद्दालकः ।

देवताः—१-६ शितिपाद् अविः, ७ काम; ८ भूमिः ।

छन्दः—१, ३ पथ्या पङ्क्तिः; २, ४-६ अनुष्टुप्; ७ षट्पदा उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककुम्मती गर्भा विराड् जगती; ८ उपरिष्टाद् बृहती ॥

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ १ ॥

(यमस्य-अमी सभासद.-राजान.) राष्ट्र एव राजसभा के नियमनकर्ता राष्ट्रपति-राजा सभापति के वे प्रसिद्ध सभासद प्रतिष्ठित राज कर्मचारी (इष्टा पूर्तस्ययद्-विभजन्ते) जनता की दृष्टि पूर्त्ति के कार्य-जल, प्रकाश, धर्मशाला, विश्राम स्थान चिकित्सालय आदि का जो आय में से विभाग करके लेते है (शितिपात्-दत्तः) वह धर्म का भाग[1] दिया हुआ (स्वधा) अपने धारण करने का साधन है (तस्मात्) उसके देने से (अविः-प्रमुञ्चति) भूमि प्रमुक्त[2] हो जाती है भूमि पर जो ऋण-करे राज्यव्यवस्था का हो उस से छूट जाती है-स्वामी के भोगने योग्य हो जाती है भूमिहार को यज्ञ यागों-सार्वजनिक हितकर कार्यों के लिये राजकर्मचारियों प्रमुखजनों को धन दान देना चाहिये ॥ १ ॥

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

---

१ "शितिपादः-शितयः शुक्लाः पादा अंशा येषाम्" [ऋ० १ । ३५ । ५ दयानन्द]

२ "इयं पृथिवी उपविरियं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति" [श० ६ । १ । २ । ३३] "अविः रक्षणादि कर्त्री" यजु० २३ । १२ दयानन्दः ।

(दत्तः शितिपात्) दिया हुआ धर्मभाग (सर्वान्-कामान् पूरयति) सारी कामनाओं को पूरा करता है। (भवन्-आभवन्-प्रभवन्-आकूतिप्रः) सत्तावाला यशोरूप में फैला हुआ प्रभाव वाला होता हुआ होकर इस प्रकार यह संकल्प को पूरा करने वाला है (अविः-न-उपदस्यति) भूमि उपक्षीण नहीं होती, राजकर्मचारी आदि से विनष्ट नहीं की जाती है ॥ २ ॥

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥३॥

(यः-लोके संमितं-अवि ददाति) जो समाज द्वारा सम्यक नियत धर्मभाग भूमि को आय को देता है दान करता है यज्ञ आदि में (सः-नाकम्-अभ्यारोहति) वह नितान्त-अभय सुख स्थान पर जावेगा (यत्र-अबलेन बलीयसे शुल्कः-न क्रियते) जहाँ निर्बल द्वारा बलवान् सहसा छीनने वाले के लिये अपना भी भाग[1] नही दिया जाता है राजपुरुषों को कर या पात्रों को दान देने वालों की लक्ष्मी का बलवान् अपहरण नही कर सकता है ॥ ३ ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

(पञ्चापूपम्) पांच इन्द्रियों वाले[2] मनुष्य पशुपक्षी सरीसृप कृमि के निमित्त (अविं शितिपादम्) भूमिसम्बन्धी धर्म्म भाग दान (लोकेन सम्मितम्) जो राष्ट्र समाज ने स्वीकृत या सम्यक् नियत किये को (प्रदाता) प्रदान करने वाला भूमिहार (पितृणां लोके) अपने पिता पितामह प्रपितामह आदि के स्थान में (अक्षितम्-उपजीवति) क्षयरहित हुआ समृद्ध होकर जीता है ॥४॥

---

१ "श्रीर्वै शुल्कः" [जै० ३ । २५८]

२ "इन्द्रियमपूपः" [ऐ० २ । २४] "इन्द्रस्यापूपः" इतीन्द्रियं वा इन्द्र [मै० ३ । १० । ६]

पश्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

(सूर्यामासयोः) पूर्व मन्त्र में कहा हुआ ऐसा दाता सूर्य और चन्द्रमा के लोक में-मोक्ष में और अगले जन्म मे उपाश्रित हो जाता है ॥ ५ ॥

इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत् ।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

(इरा-इव) इरा-इडा पृथिवी के समान तथा (समुद्रः-इव) समुद्र के समान (महत् पयः) जो महान् जलरूप है (न-उपदस्यति) नहीं क्षय को प्राप्त होता है, तथा (सवासिनौ देवौ-इव) सहवासी अश्विनौ-अग्नेय-सोम्य पदार्थ के समान (शितिपात्-न-उपदस्यति) धर्म्य भाग दिया हुआ क्षय को प्राप्त नही होता है ॥ ६ ॥

क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् ते ॥ ७ ॥

(इदं क कस्मै-अदात्) इस शितिपात् धर्म्य दान को कौन किसके लिये देता है अर्थात् कोई किसी के लिये नही देता है, किन्तु (कामः कामाय-अदात्) काम कामना के लिये देता है वास्तव मे देने वाला मनुष्य कोई नही देता और लेने वाला भी कोई नही लेता है, कामना ही देती है और कामना ही लेती है, देने वाले में दातृभाव का अभिमान नहीं होना चाहिये मैं देता हूँ, और लेने वाले में हीन भावना न हो मैं लेता हूं अपितु दोनों लेने वाला और देने वाला निर्लेपरूप से दे और देने वाले मे कामना है मुझे धर्म भावी जन्म अच्छा मिले लेने वाले में कामना है मेरा यह लोक निष्पाप चले संसार में

कार्यों से आ जीविका करने में कुछ न कुछ पाप सम्पर्क होता है परन्तु अध्यात्म साधना विद्याप्रचार कर्म करने द्वारा लेने में मोक्ष-पाने की कामना है अतः (कामः-दाता कामः प्रतिग्रहीता) कामना ही देती है कामना ही लेती है (कामः समुद्रम्-आविवेश) काम भाव समुद्र में पहुँच गया समुद्ररूप हो गया कारण कि काम भाव का अन्त नहीं समुद्र का भी अन्त नहीं। (कामेन त्वा प्रति गृह्णाणि) काम भाव मेरे अन्दर है अतः तुझे धर्म भाग को लेता हूँ (काम-एतत्-ते) हे काम भाव यह तेरा श्रेष्ठकर्म पूरा करे ॥ ७ ॥

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥८॥

(त्वा) हे धर्म दान तुझे (भूमिः-इदं महत् अन्तरिक्षं प्रतिगृह्णातु) पृथिवी यह महान् आकाश लेवे-स्वीकार करे-करता है-पृथिवी के प्राणवासी और आकाश के प्राणी इसका लाभ लें-लेकर उसका हित साधे (प्रतिगृह्य) उस धर्मदान को लेकर अकेला न भोग कर (अहं प्राणेन मा विराधिषि) मैं प्राणो से वर्जित न होऊँ या (आत्मना) आत्मा से वर्जित न होऊँ (मा प्रजया) सन्तान से रहित न होऊँ। दान लेकर दूसरों को लाभ भी देना चाहिये। जैसे दाता अकेला खाने वाला पापी होता है ऐसे लेने वाला भी ऐसा खाने वाला पापी होता है ॥ ८ ॥

त्रिंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा ।

देवता—सांमनस्यम् ।

छन्दः—१-४ अनुष्टुप्; ५ विराड् जगती; ६ प्रस्तार-पङ्क्ति ७ त्रिष्टुप् ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

(वः) तुम्हारा (सहृदयम्) समान हृदय-एक हृदयपना (सांमनस्यम्) सम्यक् मनो भाव (कृणोमि) करता हूँ-किया है-किया करता हूँ, अतः (अन्यः-अन्यम्-अभिहर्यत) अन्य अन्य को परस्पर प्रेम करो[1] (अघ्न्याजातं वत्सम्-इव) गौ नवजात बछड़े को जैसे प्रेम करती है ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

(पितुः-अनुव्रतः पुत्रः) पिता के अनुव्रत-अनुकूल पुत्र कर्म करने वाला तथा (मात्रा संमनाः-भवतु) माता के साथ सम्यक् मनोभाव वाला-विवाद न करने वाला हो (जाया पत्ये मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु) पत्नी पति के लिये मधु शान्ति वाली वाणी बोले ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

(भ्रातरं भ्राता मा द्विक्षत्) भाई के प्रति भाई द्वेष न करे (उत स्वसा स्वसारम्) और बहिन-बहिन से प्रति द्वेष न करें (सम्यञ्चः सव्रता-भूत्वा) सदा मिल-मिलाप को प्राप्त हुई-समान सद्भाव वाले होकर कल्याण भावना से वाणी बोलें ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।

तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

(न देवाः-न वियन्ति) जिसके द्वारा विद्वान्-जन परस्पर विरुद्ध नहीं चलते हैं-एक मार्ग पर चलते हैं (न-उ) न ही (मिथः-विद्विषते) विद्वेष

---

१ "हर्यत कान्ति कर्म" [निघ० २ । ९]

करते हैं (तत् सञ्ज्ञान ब्रह्म) सहमातसाधक मन्त्र-मननीय बोध को (वः-गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः) तुम्हारे घर मे समस्त मनुष्यों के लिये हितकर करता हूँ ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

(ज्यायस्वन्तः) ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुषों वाले बड़े श्रेष्ठ को अपने ऊपर मानने उनके आदेश में चलने वाले (चित्तिनः) प्रशस्तचित्त वाले या परस्पर एक चित्त वाले-एक लक्ष्य वाले (संराधयन्तः) एक दूसरे के या समान कार्य साधक होते हुए (सधुराः-चरन्तः) शोभन समान धुरा वाले-समान कार्य करने वाले या समान मन वाणी वाले[1] विचरण करते हुए (मा वि यौष्ट) मत एक दूसरे से अलग होओ (अन्यः-अन्यस्मै वल्गु वदन्तः) अन्य अन्य के लिये शोभन प्रिय बोलते हुए (एत) एक दूसरे के यहाँ आओ जाओ (वः सध्रीचीनान् संमनसः कृणोमि) तुम्हें सह गति वाले-साथी सम्यक् एक भाव वाले करता हूँ ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

(वः) हे जनो तुम्हारा (प्रपा समानी) पीने का स्थान समान हो-एक हो (अन्नभागः) भोजन स्थान एक हो-पुनः (सम्माने योवक्ते वः-सह युनज्मि) समान जुए में एक योजना कार्य बन्धन में तुम्हें युक्त करता हूँ (सम्यञ्चः-अग्निं सपर्यत) सम्यक् गति वाले का ज्ञान प्रकाश स्वरूप परमात्मा का अर्चन-स्तुति आदि करो (अराः-नाभिम्-इव-अभितः) जैसे चक्र नाभि के अरा शलाकाएं आश्रित होते हैं ॥ ६ ॥

---

१ "द्वे एव धुरौ मनश्च वाक् च" [जै० १ । ३२०]

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

(वः) तुम्हें (सध्रीचीनान्) साथ गति-प्रवाह वाले सम्यक् सावधान मन वाले (संवनेन) सम्यक् सम्भजन से (कृणोमि) मैं करता हूँ-बनाता हूँ (सर्वान् एकश्नुष्टीन्) सब को एक शीघ्र कार्य वाले समान मन्त्र भाव वाले करता हूँ (देवाः-इव-अमृत रक्षमाणाः) मुक्तों की भाँति अमृत की रक्षण अमृत को रखने वाले (सायंप्रातः) प्रातः-सायं दोनों समय (सौमनसः-वः अस्तु) तुम्हारा सुमनो भाव हो ॥ ७ ॥

एकत्रिंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा ।

देवताः—अग्नादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः ।

छन्दः—१-३, ६-११ अनुष्टुप् ४ भुरिगनुष्टुप्; ५ विराट् प्रस्तार पङ्क्तिः ॥

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

(देवाः) मुक्त आत्माएँ तथा सूर्य आदि (जरसा वि-आवृतन्) जरावस्था जीर्णता से व्यावृत हो गए अलग हो जाते है और (अग्ने) हे ब्रह्मज्ञान के प्रचारक नेता तथा प्रज्वलनशील अग्नि (त्वम्-अरात्याः-वि) तू अदानशील प्रवृत्ति से पृथक् हो जाता है अलग रहता है । ब्रह्मज्ञानी ज्ञान देता है अग्नि भी होमादि द्वारा स्वास्थ्य प्रद जल-वृष्टि देती है (अहम्) मैं प्रार्थी उपासक (सर्वेण पाप्मना वि) सारे मानस पापभाव से अलग हो जाता हूँ (यक्ष्मेण वि) शारीरिक पाप रोग से अगल हो जाता हूँ (आयुषा सम्) आयु से संयुक्त हो जाता हूँ ॥ १ ॥

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥

(पवमानः-आर्त्या वि) ज्ञान स्वरूप परमात्मा या सोम ओषधि पीड़ा रोग से अलग हैं अलग करे (शक्रः पाप कृत्ययावि) शक्तिमय परमात्मा या वायु पाप क्रिया से अलग है, निर्दोष है करता है (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

(ग्राम्याः पशवः) नागरिक पशु गौ आदि (आरण्यैः-वि-असरन्) जंगली सिंह आदि पशुओं से दूर चले जाते या रहते है दूर रहने वाले अपने स्नेह व्यवहार द्वारा (आपः-तृष्ण्या वि०) जलाशय प्यास से दूर रहते दूर करते हैं (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥

(इमे द्यावापृथिवी वि-इतः) ये द्युलोक और पृथिवी लोक अलग-अलग हैं (पन्थानः-दिशं-दिशं वि) मार्ग अपनी-अपनी दिशा-दिशा अलग-अलग जाते हैं (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतु युनक्ति) सन्तान को विश्वासित करने वाला पिता कन्या के लिये अपने धन से दातव्य भाग को पृथक् नियत कर देता है अलग करता है। (इदं विश्वं भुवनं वि-याति) यह सारा संसार अलग-अलग रहता है। (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६ ॥

(अग्निः प्राणान् संदधाति) शरीरान्तर्गत जाठर-अग्नि प्राणों को सम्यक् धारण करता है (प्राणेन-चन्द्रः संहितः) प्राण से मन[1] सम्यक् धारण किया जाता है । (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ६ ॥

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥

(देवाः-विश्वतः-वीर्यं सूर्यम्) विद्वान् जन सर्वतः वीर्यरूप प्रतापवान् सूर्य को (प्राणेन समैरयन्) अपने प्राण से संयुक्त करते है अर्थात् सूर्य से प्राणों में शक्ति लेते हैं[2] । (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ७ ॥

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८ ॥

(आयुष्मताम्-आयुष्कृताम्) प्रशस्त आयु वालों अन्य की आयु को करने वाले-बनाने वाले विद्वानो के (प्राणेन) प्राण बल की भांति प्राणसम्पादन के द्वारा (जीव) जीवन धारण कर (मा मृथाः) मत अल्प आयु में मरना । (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ८ ॥

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥

---

१ "चन्द्रमा मनः" [ऐ० आ० २ । २ । ५]
२ "प्राणाः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः [प्रश्नोपनिषद्]

(प्राणतां प्राणेन) प्राण लेते हुए बलवानों के प्राण के समान (प्राण-प्र-अन) अपने प्राण प्रकृष्ट जीवन धारा कर (इह-एव-भव) इस शरीर में हो-रह (मामृथाः) मत मर (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ९ ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

इन दोनों मन्त्रों की एक वाक्यता है, 'उदस्थाम्' क्रिया को लेकर दोनों का एक साथ अर्थ करते हैं ।

(आयुषा-उद्) आयु से उन्नत हों (आयुषा सम्) आयु से संस्थित संयुक्त हों पूर्ण आयु को प्राप्त हों (ओषधीनां रसेन) ओषधियों के रस से नीरोग रहें (व्यहम्) पूर्ववत् तथा (पर्जन्यस्य वृष्ट्या) मेघ की वृष्टि से अन्य जल प्राप्त कर (वयम्-अमृताः) हम अमृत-असमय मृत्यु से रहित हुए (आ-उदयम्) समन्ताप से ऊपर उठें (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥

स्वामी ब्रह्ममुनिकृत भाषा भाष्य
अथर्व वेद का तृतीय काण्ड समाप्त ॥

पुरूरवा और उर्वशी का संवाद

वक्तव्य—ऋग्वेद दशम मण्डल के ९५ वें सूक्त में इन का परस्पर संबाद आता है जिसका भाष्य हमने परोपकारिणी सभा अजमेर के लिये किया है उस भाष्य का एक सन्दृश्य (नमूना) समझिए। सायणभाष्य में यहाँ अश्लील चर्चा प्रस्तुत करी है परन्तु हमारे भाष्य में गृहस्थ का ऊचा आदर्श प्रतीत होना है। यास्काचार्य ने अपने निरुक्त ग्रन्थ मे इस के दो अंशों का स्पर्श किया है एक में तो पुरूरवा से मेघ और उर्वशी से विद्युत् अर्थ समझा जा सकता है दूसरे अंश में गृहस्थ की चर्चा स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित की है। हमने यहाँ केवल भाषाभाग गृहस्थ परक प्रस्तुत करना है। पुरूरवा-बहुप्रवचनकर्त्ता स्नातक और उर्वशी सद् गृहस्थ की कामना करने वाली ब्रह्मचारिणी विवाहिता जो निम्न प्रकार है—

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन् ॥१॥

(हये) गतिशील वश को बढाने वाली (जाये) पत्नी (घोरे) दुष्टों को दुःखप्रद भयङ्कर, (मनसा तिष्ठ) मनो भाव-मनो योग से गृह में रहे (मिश्रा) परस्पर मेल-मिलाप वाले (वचांसि) वचनों को अवश्य (कृणवावहै) सङ्कल्पित करे-बोले (नौ) हम दोनों के (एते) ये (अनुदितासः) न प्रकट कर योग्य गोपनीय (मन्त्राः) विचार (मयः-न करन्) सुख क्या नहीं करते है-नही करेंगे-निश्चित करेंगे (परतरे-अहन् नुचन) अन्तिम किसी दिन अवश्य करेंगे-सुसन्तान प्राप्ति पर ॥ १ ॥

भावार्थ—योग्य युवक युवति का विवाह होना चाहिए स्नेहबन्धन सन्तानप्राप्ति के लिये शुभ है ॥ १ ॥

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ॥२॥

(एता वाचा किं कृणव) इस मन्त्रणा वाणी से क्या करें-करेंगे (तव-अहम्) तेरी मैं (उषसाम्) उषाओं में तेजस्विनी नारियों में (उग्रिया-इवा) उषा जैसी श्रेष्ठा (प्राक्रमिषम्) तेरे अनुकूल चलती हूं (पुरूरवः) हे बहुत वक्ता पति देव ? (पुनः-अस्तं परेहि) विशेष सदन को प्राप्त हो (वातः-इव) वायु के समान (दुरापना) दुष्प्राप्या (अहम्-अस्मि) मैं हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्रणा वाणी के अनन्तर-विवाह हो जाने पर पति की पत्नी बन जाती है तब उषा जैसे सूर्य के साथ चला करती है ऐसे पति के अनुकूल चलती है-चलना चाहिए ॥ २ ॥

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः ।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः ॥३॥

(इषुधेः) वाणकोश से (असना) फेंका जाने वाला (इषुः) वाण (श्रिये न) विजय लक्ष्मी-गृहस्थ शोभा के लिये तुझ भार्या के विना समर्थ नही होता (रंहिः-न) मैं बलवान् भी तेरे सहयोग के विना (गोषाः-शतसा.) बहुत भूमि का बहुत धन का भोक्ता (अवीरे-उरा क्रतौ) तुझ वीर पत्नी रहित महान् यज्ञ कर्म में (न दविद्युतत्) नही प्रकाशित होता है (धुनयः) अयोग्य विचारो को विधूनन-नष्ट करने वाले सङ्कल्प तुझ-मित्र विना (मायुम्) मेरे शब्द-आदेश (न चितयन्त) नही विचारते है। तेरे सहयोग केविना ॥ ३ ॥

भावार्थ—घर की शोभा गृहिणी के विना नही है। बलवान् धनवान् होते हुए भी पुरुष विधिपूर्वक विवाहित पत्नी के गृहस्थ चालन में समर्थ नहीं होता अपने आन्तरिक विचारों पर विजयपाने के लिये पत्नी के सहयोग की आवश्यकता है मित्र भी साथ देने है ॥ ३ ॥

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्ट्यन्तिगृहात् ।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन ॥ ४ ॥

(यदि सा-उषः) यदि वह तेजस्विनी भार्या "उषः सुलुक्" (श्वशु-राय) कुत्ते के समान हिंसक व्यभिचारी जार के लिये "शृ हिंसायाम्" [क्र्यादि०] उससे 'डुरच् प्रायय' औणादिक (वसुः-वभः) वास-अन्न (दधती) धारण करती है-देती है (अन्तिगृहात्) घर में (वष्टि) चाहती है (अस्तं ननक्षे) घर को व्याप जाता है (यस्मिन्) जिस घर में (दिवा नक्तम्) दिन रात (चाकन्) सम्भोग की इच्छा करता है (वैतसेन) पुरुषेन्द्रिय के द्वारा (श्नथिता) हिंसित या ताड़ित होती है ॥ ४ ॥

भावार्थ—यौवन सम्पन्न नव विवाहित स्त्री किसी अज्ञात व्यभिचारी जार को घर मे वास या भोजन भूल कर न दे नही तो घर पर अधिकार कर लेगा और दिन रात कामवश उसे अपनी जनन इन्द्रिय से ताड़ित करेगा ॥४॥

त्रि स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि ।
पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्व१स्तदासीः ॥५॥

(उत पुरूरवः) हां ! हे बहुत प्रशंसनीय वक्ता ! यदि मैं भूल में ऐसा कर बैठती (मा) मुझे (अह्नः-त्रिः) दिन में तीन बार-बहुत बार (वैतसेन) अपनी जनन इन्द्रिय से "शेपो वैतस इति पुस्प्रजननस्य-हि स्म माह्नः श्नथयो वेतसेन" [निरु० ३ । १२] (श्नथयःस्म) ताड़ित करे-पीड़ित करे यह सम्भावना है (अव्यत्यै मे) अविपरीता-अनुकूल हुई मुझ को (पृणयासि) तृप्त कर ध्यान रख कोई व्यभिचारी जार न घुस सके (ते केतमनु) तेरे निर्देश के अनुसार (आयम्) मैं पत्नी प्राप्त हुई हूं (तत्) इस हेतु (वीर) हे वीर पति (मे तन्वः-राजा-आसीः) तू आत्मा का-आत्मीय राजा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—गृहपत्नी या स्त्री घर में किसी अज्ञात पुरुष व्यभिचारी को वास भोजन न दें वह यदि बल पा गया तो दिन रात अपनी जनन इन्द्रिय से संभोग में धकेल पीड़ित करेगा पति भी अपनी पत्नी की सर्व प्रकार रक्षा करे और अज्ञात या पर पुरुष से अधिक सम्पर्क न रखे ॥ ५ ॥

या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिर्ह्रदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः ।
ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्त ॥६॥

(या) जो पत्नी (सुजूर्णिः) अच्छी शीघ्रकारी (श्रेणिः) पति की आश्रयदात्री (सुम्ने-आपिः) सुख में प्रेरित करनेवाली (ह्रदे चक्षुः) जलाशय में नेत्रवाली अर्थात् गम्भीरदृष्टिवाली (न) और (ग्रन्थिनी) गृह वस्तुओ और कामों को ठीक जोड़ने वाली (चरण्युः) यथावत् व्यवहार करनेवाली (ताः) वे ऐसी पत्नियाँ देवियाँ (अञ्जयः) कमनीय (अरुणयः) सुदर्शनीय तेजस्विनियाँ (श्रिये) समृद्धि के लिये (सस्रुः) यत्नशील (धेनवः) दुग्ध देने वाली (गावः-न) गौओं के समान सुख को दूहने वाली (अनवन्त) अपने पति की प्रशंसा किया करती है या किया करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—पत्नी शीघ्र कार्य करने वाली पति का सहारा सुख में प्रेरित करने वाली गम्भीरदृष्टिवाली कार्यो की उचित योजना बनाने वाली गृह व्यवहार कुशल तेजस्वी कमनीय गृह समृद्धि में यत्नशील दूध देने वाली गौओं के समान सुख का दोहन करने वाली पतिप्रशंसक हो ॥ ६ ॥

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः ।
महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन्दस्युहत्याय देवाः ॥ ७ ॥

(अस्मिन् जायमाने) विवाह संस्कार द्वारा इस बहुत वक्ता पत्नी-प्रशंसक पति हो जाने पर (ग्नाः) कुल भार्यायें (सम्-आसत) सङ्गत होती हैं। (उत-ईम्) और इसको (स्वगूर्ताः-नद्यः) स्वगति वाली नदियों के समान (अवर्धयन्) बढ़ाती हैं बधाई देती है (पुरूरवः) हे बहुत वक्ता बहुत प्रशंसक (यत्) जबकि (त्वा) तुझे (देवाः) विद्वान् जन-ऋत्विग् लोग (दस्युहत्याय) व्यभिचारी की हत्या के लिये (रणाय-अवर्धयन्) संग्राम करने के लिये तुझे बढ़ावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—विवाह संस्कार द्वारा जब स्त्री का पति बन जाता है तो स्त्रियां सङ्गत होकर बधाई देती हैं तथा विद्वान् जन ऋत्विज घर में घुस बैठने वाले व्यभिचारी जार को बाहिर निकाल देने में सहायक प्रोत्सहायक बने ॥ ७ ॥

सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे ।

अप स्म मत्तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन्रथस्पृशो नाश्वाः ॥८॥

(यत्) जब (सचा) साथ मिलकर (अत्कम्) उस आततायी अत्ता सम्भोगी व्यभिचारी जार को देख कर (आसु जहतीषु) इन घर छोड़ भागने वाली स्त्रियों मे (अमानुषीषु) मनुष्यसम्पर्करहित पवित्र आचरण वालियो मे (मानुष.-भुज्यु:) मैं मनुष्यों मैं श्रेष्ठ पालक पति (ताः-निषेवे) उनकी निरन्तर सेवा-रक्षा करूं ऐसा दृढ सङ्कल्प करे । (यत् मत् स्म) मेरे पास से (अपतरसन्ती) व्याध के भय से भागती हुई हरिणी की भाति (न-अत्रसन्) न भयकरे उस व्यभिचारी जार से (रथस्पृशः-अश्वाः-न) रथ में युक्त-जुड़े हुए घोड़ो के समान पत्निया घर मे दृढ रहे-भय न करे घर को वहन करे ॥८॥

भावार्थ—बलात् सम्भोग करने वाले व्यभिचारी जार के भय से जब पत्नियां स्त्रिया भागने लगे तो बलवान् पति पूर्ण आश्वासन दे उन्हें सब प्रकार रक्षा से रखे ॥ ८ ॥

यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक्सं क्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते ।

ता आतयो न तन्वः शुम्भत स्वा

अश्वासो न क्रीळयो दन्दशानाः ॥९॥

(यत्) जब (आसु-अमृतासु) इन अमृत सुख देने वाली स्त्रियों में (निस्पृक-मर्तः) नियम से स्पृहा-इच्छा करता हुआ पति (क्षोणीभिः) विविध मधुर शब्दों द्वारा (न) और (क्रतुभिः) रक्षा कर्मो द्वारा (सम्पृक्ते) सम्पर्क करता है (ताः) वे स्त्रियां (आतयः-न) कपिञ्जल-तित्तिर पक्षियो के

समान मधुर बोलती हुई उस पति के लिये (स्वाः-तन्वः) अपने शरीरों को (शुम्भत) शोभित करती हैं-आत्मभावों से समर्पित करती हैं (दन्दशानाः) हंसते हुए (क्रीडयः) खेलते हुए (अश्वासः-न) घोड़ों के समान अपने को शोभित करती हैं ।। ९ ।।

भावार्थ—स्त्रियां अमृत सुख देने वाली होती हैं पति नियमित इच्छा करता हुआ मधुर शब्दों रक्षा कर्मों से सम्पर्क करता है तो वे भी मधुरभाषी पक्षी के समान मधुर बोल अपने शरीर को सुभूषित कर आत्मा को समर्पित करती हैं और दिनोदिन हंसती खेलती हुई पति के सुख का कारण बनती हैं इन ऐसी स्त्रियों की सदा इच्छापूर्ति और रक्षा करनी चाहिए ।। ९ ।।

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि ।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ।।१०।।

(या-उर्वशी) जो बहुत सुख भोगो को भोगती भुगाती हुई प्राप्त होती है वह बहुत कमनीय स्त्री (विद्युत्-न पतन्ती) विद्युत् की भांति सुखवृष्टि बरसाती हुई (दविद्योत्) जो अपनी गुणों से घर में चमकती हुई (मे) मेरे लिये-मुझ गृहपति के लिये (अप्या काम्यानि भरन्ती) आप्तव्य कमनीय सुखों को धारण करती हुई वर्तमान है (अपः-नर्यः-सुजातः-जनिष्ट) मानव के आन्तरिक जलों मे नरहित-नर के लिये उपयुक्त शुक्र धातु सुप्रसिद्ध पुत्ररूप में रस के अन्दर उत्पन्न होता है (उर्वशी दीर्घम्-आयुः प्रतिरत) बहुत कमनीय स्त्री गृहपति की आयु को बढ़ाती है संयम सदाचार से रहती और रखती हुई ।। १० ।।

भावार्थ—आदर्श पत्नी बहुत सुख भोगों को भोगने और भुगाने वाली होती है, घर में सुख की वृष्टि करती है अपने गुणों से प्रकाशमान होती है ऐसी पत्नी मानव को शुभ कर्म द्वारा प्राप्त होती है, मानव के अन्दर जो जीवन रस है उससे पुत्र की प्राति कराती है, अच्छी पत्नी परिवार में आयु का विस्तार करती है ।। १० ।।

जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत्पुरूरवो म ओजः ।
अशासं त्वा विदुषी सास्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभुग्वदासि ॥११॥

(पुरुरवः) हे बहुत शुभ बोलने वाले ! (इत्था) सत्य तू (गोपीथ्याय हि जज्ञिषे) गृहस्थ रस पान के लिये अवश्य समर्थ है (मे-ओजः-दधाथ) मेरे में पुत्रोत्पत्तिविषयक सामर्थ्य वीर्य को धारण करता है (विदुषी त्वा-अशासम्) मे विदुषी होती हुई तुझे कहती हू (सस्मिन्-अहन्) सब दिन सारे दिन मे (मे न-अशणोः) मेरे लिये नही सुनता-स्वीकार करता है (किम्-अभुक्-वदासि) क्या तू अभोक्ता या अरक्षक हुआ बोलता है ॥११॥

भावार्थ—सच्ची सदाचारिणी पत्नी पति को गृहस्थजीवन की मर्यादा बतावे-सुझावें कि गृहस्थाश्रम केवल भोग का आश्रम नही हैं सन्तानोत्पत्ति के लिये है कामवासना पूरी करने के पीछे न पड़ना चाहिये, ठीक है पति भोग का भूखा है परन्तु पुत्र का इच्छुक होने से कामवासना दुःख कां निमित्त नहीं, केवल काम वासना दुःखदायक है ॥ ११ ॥

कदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रु वर्तयद्विजानन् ।
को दम्पती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत् ॥१२॥

(कदा) कब (जातः) उत्पन्न हुआ (सूनुः) पुत्र (पितरम्) पिता को (इच्छात्) चाहे-पहिचाने (चाकन्) रोता हुआ पुत्र (विजानन्) पिता को जानता हुआ (अश्रु) आंसु (न वंतयात्) न निकाले-न बहावे-उसके पास आकर शान्त हो जावे (कः) कौन पुत्र (समनसा) मन के साथ या मनोयोग से (दम्पती) भार्या पति-स्व माता पिता को (वियूयोत्) विवेचित करे ! कोई नही (अध) अनन्तर (अग्निः) कामाग्नि (श्वशुरेषु) कुत्ते के समान हिंसित करने वाले, जार व्यभिचारियों में (दीदयत्) दीप्त होती है, तब केवल कामातुर व्यभिचारी अकस्मात् पिता हुआ पुत्र को स्नेह नहीं करता है पुनः पुत्र उसे कैसे चाहे और जाने ॥ ११ ॥

भावार्थ—पुत्र उस पिता को चाहता है जो पुत्रकामना से उसे उत्पन्न करता है उसके पास रोता हुआ शान्त हो जाता है केवल व्यभिचारी कामातुर से अकस्मात् उत्पन्न हुए को वह स्नेह नहीं करता है पुनः पुत्र उसे कैसे चाहे, अतः पुत्र की इच्छा से गृहस्थजीवन या गृहस्थाश्रम निभाना चाहिये ॥ १२ ॥

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन्न क्रन्ददाध्ये शिवायै ।
प्र तत्ते हिनवा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर मापः ॥१३॥

(प्रति ब्रवाणि) पुनः कहती हूं (चक्रन्) पुत्र क्रन्दन करता हुआ-(न) सम्प्रति (अश्रु) आंसुओं को (वर्तयन) बहायेगा (क्रन्दत्) रोता हुआ (शिवायै) कल्याण करने वाली माता के लिये (आध्ये) स्मरण करेगा-चिन्तन करेगा (ते) तेरा (तत्) वह सन्तान-पुत्र (अस्मे) हमारे पास है (प्रति हिनव) तुझे सोंप दूं-देदूं तो तेरे पास न रहैगा-रोएगा ही, मुझ माता के बिना, अतः (अस्तं परा-इहि) मेरे साथ गृह-सद्गृहस्थाश्रम को प्राप्त हो (मूर) मेरे विना मुग्ध जन ! (मा) मुझे (नहि) नही प्राप्त करेगा यदि जार होकर, मेरी कामना करेगा यह धर्म नही, अतः तुझे कभी जार कर्म न करना चाहिए ॥ १३ ॥

भावार्थ—कामुक जार मनुष्य के पास उस से उत्पन्न पुत्र न ठहरेगा क्योंकि पुत्रभाव से उसे उत्पन्न नहीं किया अतः उसके लिये पुत्रस्नेह न होगा, ऐसे जार व्यभिचारी के साथ कुमारी को सम्बन्ध न जोड़ना चाहिए वह कभी सच्चा स्नेह नहीं कर सकता है वह कभी न कभी धोका देगा ॥ १३ ॥

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ॥१४॥

(सुदेवः) हे उर्वशी पत्नी तेरे विना सुख से खेलने वाला बहु प्रशंसक पति (अद्य) आज-सम्प्रति (अनावृत्) अनाश्रित हुआ (प्रपतेत्) गिर पड़े-

मूर्छित हो जावे (परावतम्) दूर देश को (परमाम्) दूर दिशा को (गन्तवै-उ) जाने को उद्यत होवे (अध) अनन्तर-फिर (निर्ऋतेः) पृथिवी के (उपस्थे) उपस्थान-कोने या खड्डे में (शयीत) शयन करे जावे-निष्क्रय हो जावे-मर जावे (अध) अनन्तर-पुनः (एनम्) इसको-मुझ को (रभसासः) महान् (वृकाः) भेड़िये आदि मांसभक्षक पशु (अद्युः) खा डालें ॥ १४ ॥

भावार्थ—अन्यथा मोह करने वाले निराश्रित होकर किसी भी देश दिशा में भूमि के गहन गर्त स्थान में आत्महत्या कर लेते हैं अथवा निराश होकर ऐसे निष्क्रिय हो जाते हैं कि उन जीते हुओ को भी मांसभक्षक जन्तु खा जाते है, अतः अन्यथा मोह करना उचित नही शास्त्रविधि से धर्मानुसार पति पत्नी सम्बन्ध होना चाहिए ॥ १४ ॥

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा
त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन् ।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि
सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥१५॥

(पुरुरवः) हे बहुभाषी ! (मा मृथाः) मत मर (मा प्रपप्त) मत कहीं खड्डे आदि में गिर (मा त्वा) न तुझे (अशिवासः) अहितकर (वृकासः) मांसभक्षक भेड़िये (अक्षन्) खा जावें (न वै) न ही (स्त्रैणानि) स्त्रीसम्बन्धी (सख्यानि) सखीभाव-स्नेह मोह (सन्ति) होते हैं-स्थिर होते हैं हितकर होते हैं (एता) ये तो (सालावृकाणाम्) वेग से आक्रमण करने वाले भेड़ियो के (हृदयानि) हृदय जैसे क्रूर हैं-हानिकर हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य कामी बन कर आत्महत्या करते हैं अपने को मांस-भक्षक पशुओ तक समर्पित कर देते हैं ऐसा करना जीवन की सफलता नहीं है, स्त्रियों मे आसक्ति कामवश स्नेह स्थायी नही बनानी चाहिए वहाँ स्थायी नही

होता अपितु आक्रमणकारी भेड़ियों के हृदय जैसा उनका हृदय जीवन नाशक होता है, अतः सद् गृहस्थ बनकर पुत्रोत्पादन को लक्ष्य रखना चाहिए ।। १५ ।।

यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः ।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि ।।१६।।

(यत्) जिस से कि (विरूपा) पूर्व से विमुख अर्थात् पूर्व ब्रह्म-चारिणी से विरूप गृहिणी भाव को प्राप्त हुई (अचरम्) सेवन करती हूँ (मर्त्येषु) पुरुषों में-पुरुषों के सम्पर्क में एक की पत्नी होकर (अवसम्) वसती हूँ-वसूँ (शरदः) शीतकालीन (चतस्रः-रात्रीः) चार रात्रियाँ जिनमें तीन रजस्वलावाली फिर एक गर्भाधान वाली को वस रही हूँ-वसूँ, (अह्नः) दिन के (सकृत्) एक वार ही (घृतस्य) मानव-बीज वीर्य के (स्तोकम्) अल्प भाग को (आश्नाम्) भोगती हूँ-भोगूँ (तात्-एव) उतने मात्र से ही (इदं तातृपाणा) इस समय तृप्त हुई (चरामि) विचरती हूँ-विचरूँ ।।१६।।

भावार्थ—कुमारी ब्रह्मचारिणीरूप को छोड़कर गृहिणी के रूप में आती हैं या आया करती है पुरुषों के सम्पर्क में किसी एक की पत्नी बनकर रहती है-रहना होता है, पतिसङ्ग केवल शीतकाल की चार रात्रियो का होता है तीन रजोधर्म की पति के सङ्ग रहने की और चौथी गर्भाधान की, केवल एक वार मानव बीज-वीर्य का अल्प भाग सन्तानार्थ लेकर सन्तान की उत्पत्ति तक तृप्त रहना चाहिए-संयम से रहना चाहिए ।। १६ ।।

अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः ।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ।।१७।।

(अन्तरिक्षप्राम्) मेरे आत्मा को पूरण करने वाली तृप्त करने वाली (रजसः-विमानीम्) रञ्जनात्मक गृहस्थ सुख की निर्माण करने वाली (उर्वशीम्) बहुत कमनीय भार्या को (वसिष्ठः) तेरे अन्दर अत्यन्त वसने वाला मै पति (उपशिक्षामि) अपना वीर्य समर्पित करता हूँ (सुकृतस्य)

शुभकर्म-संयम-यथावत् आचरित ब्रह्मचर्य की (राति.) फलरूप दानक्रिया (त्वा) तेरे अन्दर (उपतिष्ठात्) उपस्थित रहे-सन्तान बनावे (निवर्तस्व) निवृत्त हो (मे) मेरा (हृदयम्) हृहय (तप्यते) पीड़ित होता है तेरे पास रहने से अतः जा ॥ १७ ॥

भावार्थ—पत्नी पति के आत्मा को तृप्त करती है रञ्जनीय गृहस्थसुख निर्माण करती है कमनीय है अतः पति उसके अन्दर अत्यन्त राग से बसा रहता है वह संयम से यथावत् पालित ब्रह्मचर्य के फलरूप वीर्य को पत्नी के सर्मपित करता है जो उसके अन्दर उपस्थित हो गर्भ पुत्र रूप मे पुष्ट होता है, गर्भ स्थित हो जाने पर पत्नी को पतिगृह से पिता भ्राता आदि के यहाँ चला जाना चाहिए जिससे गर्भ की रक्षा पुत्रोत्पक्ति के योग्य हो जावें, पति के पास न रहे, पास रहने से पति कामभाव से पीड़ित होता है उसके द्वारा गर्भपात होने की सम्भावना है ॥ १७ ॥

इति॑ त्वा दे॒वा इ॒म आ॑हुरैळ॒ यथे॑मे॒तद्भव॑सि मृ॒त्युब॑न्धुः ।
प्र॒जा ते॑ दे॒वान्ह॒विषा॑ यजाति स्व॒र्ग उ॒ त्वमपि॑ मादयासे ॥१८॥

(ऐल) हे वाणी में कुशल बहुवक्ता पति ! (इमे देवाः) ये विद्वान् जन (त्वा) तुझे (इति) ऐसा (आहुः) कहते है (ईम्-एतत्) यह कि (यथा) जैसे (मृत्युबन्धुः) मृत्यु जिसका बन्धु है-पीड़ा देने वाला नही है ऐसा तू (भवासि) हो जावेगा मुझे से विरक्त होकर (ते) तेरा (प्रजा) सन्तति-पुत्र (हविषा) अन्नादि से (देवान्) विद्वानो का (यजाति) सत्कार करेगा-तेरी प्रसिद्धि करेगा (त्वम्-अपि) तू भी (स्वर्गे-उ) मोक्ष में स्थिर (मादयासे) हर्ष-आनन्द को प्राप्त करेगा ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य गृहस्थ से विरक्त होकर विद्वानों के सत्कार का पात्र बन जाता है और मृत्यु भी उसका मित्र बन जाता है जो अपने विकराल स्वरूप को छोड़ देता है पीड़ा नही पहुँचाता है, मोक्ष मे स्थिर आनन्द को भोगता है उसकी सन्तान अच्छा कर्म करते हए ससार मे उसके यश को स्थिर रखते है यह गृहस्थ आश्रम का परमफल है ॥ १८ ॥

माण्डूक्योपनिषद् मुनिभाष्य

ओ३म् की व्याख्या और उपासनारीति

भाष्यकार तथा प्रकाशक

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

प्राग्वचन

नवीन वेदान्ती जन इस उपनिषद् को अपने अद्वैत मत का मूल मानकर अर्थ करते हैं परन्तु हम इसका अर्थ इसकी मौलिकता का अनुसरण करते हुए करेंगे।

१—आचार्य (ग्रन्थकार) की शैली की रक्षा करते हुए अर्थात् मन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा शब्दों के पूर्वापर सामञ्जस्य एवं रचनाशैली का ध्यान रखते हुए।

२—उपनिषदें वेदों की अध्यात्म शाखाएं हैं जो शाखी (वेदरूप वृक्ष) के अनुकूल होनी चाहिएं अतः वेदानुसारता को भी समक्ष रखा जाएगा।

३—इस उपनिषद् में ओम् की व्याख्या है, ओम् उपास्य देव है "ओम् क्रतो स्मर" (यजु० ४० । १६) "ईश्वरप्रणिधानाद्वा, तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योग। समाधिपाद २३, २७, २८) उपासनापद्धति या उपासनामार्ग योग के समन्वय को भी लक्ष्य में रखा जावेगा।

—स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

माण्डूक्योपनिषद् मुनिभाष्य

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

अर्थ—(ओम्-इति-एतत्-अक्षरम्) 'ओम' यह जो वस्तुरूप है या जिसे 'ओम्' कहते हैं वह अक्षर-न क्षर-न क्षीण होने वाला-गुणकर्मस्वभाव से परिवर्तित न होने वाला एकरस निर्विकार अविनाशी एव व्यापक[1] चेतन देव है। जैसे कोई कहता है कि 'अग्निरिति प्रज्वलितपदार्थः' अग्नि जो है वह प्रज्वलित पदार्थ है यहां कहने वाले का अभिप्राय है मुख से उच्चरित या स्याही आदि से लिखित अग्नि (शब्द) जलता हुआ पदार्थ नही किन्तु 'अग्नि' जो वस्तुरूप है वह प्रज्वलित पदार्थ है, इसीप्रकार ओम जो वस्तुरूप है वह अक्षर-न क्षीण होने वाला अर्थात् सत्यगुणकर्मस्वभाववाला एकरस निर्विकार और व्यापक है, न कि मुख से उच्चरित या स्याही आदि से लिखित जैसे इस उपनिषद् में 'अक्षर' शब्द ब्रह्म के लिए आया है वैसे ही वेद में भी जहाँ यह 'अक्षर' शब्द है वहां स्पष्ट भेदरूपसे ही ब्रह्म, जीव और जगत्कारण वर्णित है। "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तइमे समासते ॥ (ऋ० १ । १६ । ४३९) अर्थात् 'परम व्यापक अक्षर में सारे अग्नि आदि देव रखें हैं जो उसको नहीं जानता वह ऋग्वेदादि से क्या करेगा। जो उसे जानते है वे ही उसमें समागम करते है'। यहां अक्षर शब्द से ब्रह्म, देव शब्द से अग्नि आदि जगत्कारण और जो उसे नही जानता या जो जानता है ऐसे कथन से ब्रह्म के जानने के अधि-

---

१ अक्षरं न क्षरं विद्यादश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्" (महाभाष्य) 'अश्-सर' (उणादि)

कारी जीव का वर्णन है एवं जीव और जगत्कारण से भिन्न अक्षर शब्द से ब्रह्म को बताया है ।

(इदं सर्वं तस्य-उपव्याख्यानम्) यह सब विकारात्मक और ज्ञानात्मक जगत् 'विकारात्मक-पृथिवी आदि लोक लोकान्तर[1] और ज्ञानात्मक-वेद सत्य शास्त्र[2] उस ओम्रूप वस्तुका समीपी व्याख्यान अर्थात् उसका यथावत् बोध कराने वाला व्याख्यान है जैसे किसी कार्यात्मक वस्तु में क्रिया या ज्ञान से उसके बनाने वाले का बोध होता है कि एवगुणसम्पन्न इसका निर्माता है तथैव यह कार्यरूप जगत् भी इस अपने प्रवर्तक ओम् को भली भांति जनाता है इस कथन से ओम् उस से भिन्न वस्तु है क्योंकि यह जगत् उस ओम् का उपव्याख्यान कहा गया है । एवं यह भाव दर्शाया है वहां स्पष्ट भेदरूप ही वर्णन है, जैसे "एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः-की महिमा और वह पुरुष इस महिमा से महान् है एवं यही अभिप्राय इस उपनिषद् मे है, उपव्याख्यान और महिमा दोनों पर्याय हैं वैदिक परिभाषा में महिमा औषनिषद परिभाषा में उपव्याख्यान समझें । जगत् ब्रह्म नही ।

(भूतं भवत्-भविष्यत्-इति-सर्वम्-ओङ्कारः-एव) भूत, वर्तमान, भविष्यत् इन सब कालों से युक्त-भूत आदि सर्वकाल लक्षणसहित-भूत आदि सर्वकालों में स्थिति जिसकी है ऐसा अपने स्वरूप से विराजमान अर्थात् न केवल भूतलक्षण न वर्तमानमात्र न भविष्द्-लक्षण ही प्रत्युत त्रिकालरूप ओङ्कारात्मक ब्रह्म ही है, कारण कि इस परिवर्तनशील जगत् में कोई वस्तु अपने नित्य और स्वतन्त्र व्यापार से सर्वकालस्थ नहीं है यदि भूत में थी अब नहीं है अब है आगे न रहेगी भविष्य में होगी तो अब नही है किन्तु परमात्मा ही जीवों को कर्मानुसार सुख दुःख तथा मुक्तों को आनन्द में प्रवृत्त कराता हुआ अपनी एकरस शुद्ध अवस्था से त्रिकालरूप में विराजमान है यहां नवीन वेदान्तियों का जगत् शब्द का अध्याहार करके तीनों कालों में उत्पन्न जगत् को

---

१ "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" (यजु० १७ । १९)

२ "तस्माद्-यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे" (यजु० ३१ । ३

ओम् ब्रह्म बतलाना आचार्य की शैली के विपरीत है आचार्य ने पूर्व कथन ' इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' में इस सब जगत् को उस का उपव्याख्यान महिमा बतलाया है। अतः यहां तो उसे त्रिकालरूप बताना ध्येय है जैसे वेद में कहा है कि "यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥" (अथर्ववेद) अर्थात् वह परमात्मा सब भूत आदि कालों को अपने अधिभूत् करके स्थित है। इस वचन के अनुसार उपनिषद् में वर्णन है, वेद में तीन 'च, च, च' शब्दों से तीनों कालों का समुच्चय किया है एक काल की केवलता को हटाने के लिये और उपनिषद् मे 'इति सर्वं' शब्द से संग्रह है।

(यत्-च-अन्यत्) और जो कुछ उक्त उपव्याख्यानरूप जगत् से पृथक् है ('तत्-अपि-ओङ्कार-एव) वह भी ओंकार ही है, यह अगला वचन सम्बन्ध रखता है अर्थात् जगत् की अवधि या सीमा को उल्लङ्घन करके जो कोई भी वस्तु पृथक् हो सकती है वह ओम् [परमात्मा] ही है, अन्य नही कारण कि अन्य वस्तु में ऐसे सामर्थ्य का अभाव है। आकाश भी व्यापक कहा जाता है परन्तु पूर्णरूप से नहीं पूर्णरूप से सर्वव्यापक तो परमात्मा ही है जो कि आकाश से भी परे है वेद में कहा भी है "त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः" (ऋ०१।५२।१२) अर्थात् हे परमात्मन् तू इस आकाश के भी पार में है। ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है "हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन्ः ! आकाश लोक के पार में तथा भीतर अपने ऐश्वर्य और बल से विराजमान होके (आर्याभिविनय[1]) एवं वैज्ञानिक रीति से भी यह ही सिद्ध होता है-अत्यन्त अणुपरिमाण और अत्यन्त महत्परिमाण की वस्तु गोल आकार धारण करती है अत एव छोटे से छोटा कण या जल-बिन्दु गोल होता है एवं बड़े से बड़ा पदार्थ गोल होता है। पृथिवीगोल, सूर्य-

---

१ अन्यत्र भी वेद में बाहिर ब्रह्म का ही अवधारण किया है, जैसे "तदन्त-रस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" (यजु० ४० । ५) अर्थात् वह ब्रह्म इस जगत् के अन्दर है और वह ही इस सब प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के बाहिर है।

है ही और जगत् जब प्रकृतिरूप में चला जायगा तब वह प्रकृति अत्यन्त महत्परिमाण में एकरूप हो जाने से गोलाकार ही रहेगी यह सिद्ध है पुनः "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः" (तैत्तिरीयोपनिषद्) उस गोलाकार प्रकृतिरूप से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु आदि, इसके लिए देखो निम्न चित्रः—
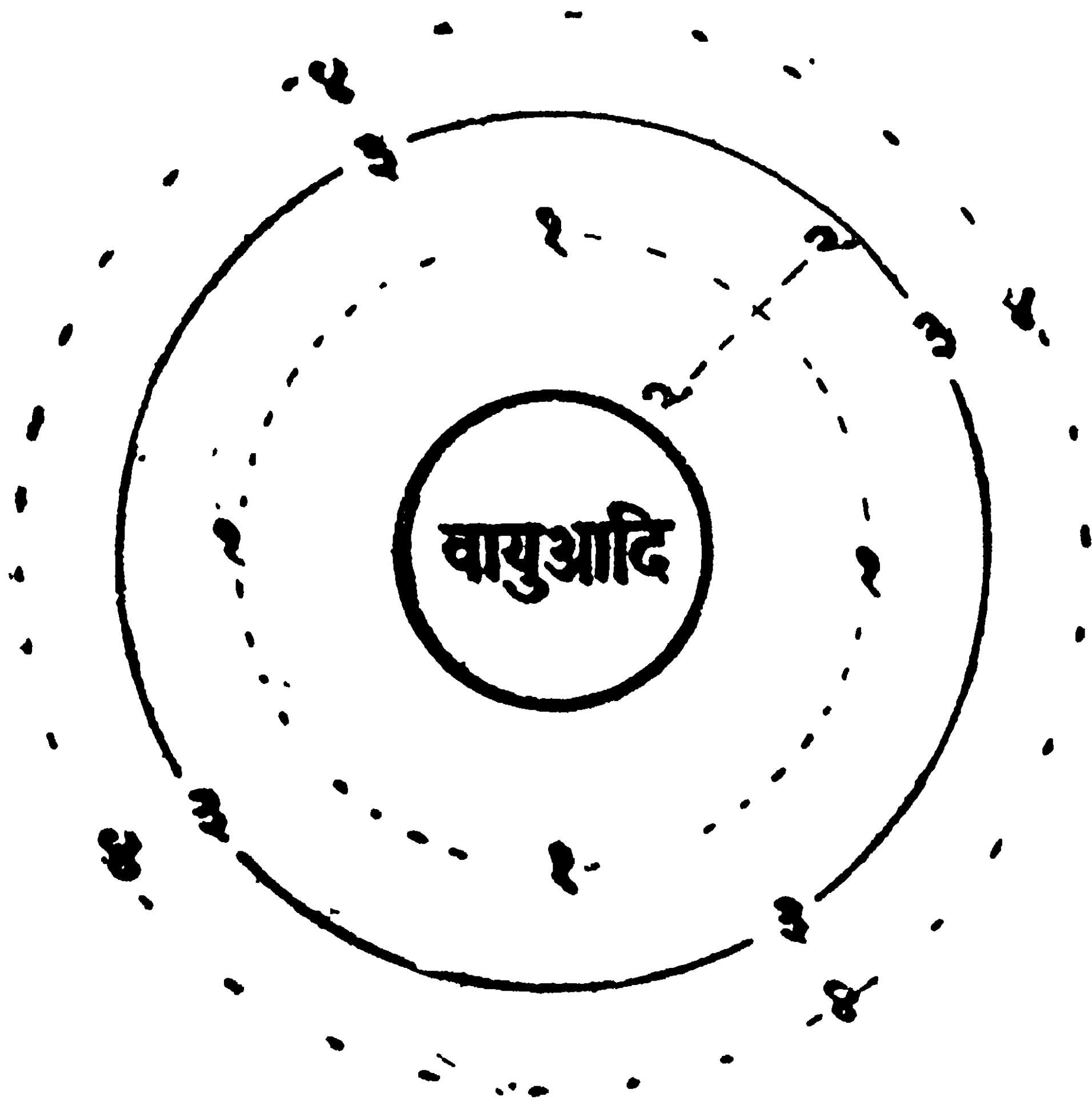
यहां चित्र में मध्य गोलाकार वायु आदि हैऔर उसके आस पास बड़े गोलाकार के भीतर आकाश है जो कि अवकाशरूप में उत्पन्न हुआ है "निष्क्र-मणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्" (वैशेषिक) जहां से निकले या जहां प्रवेश करे वह आकाश है, बस जब यह है तो देखो चित्र में आकाश वह १ ही है और वह यहां ३ तक (परिधि तक) कारण कि यहां २ से ही परमाणु निकले हैं और और प्रलयकाल में उनके प्रवेश होने की परम अवधि भी यहां

३ तक ही है तो बाहिर यह ४ क्या वस्तु है ? आकाश तो यह है ही नहीं कारण कि यहां से न तो परमाणु निकले हैं और न ही प्रलय में यहां तक प्रवेश कर सकते हैं अतः यह ब्रह्म ही है। इस प्रकार जगत् से बाहिर ब्रह्म ही है, वास्तव में आकाश भी जगद् के अन्तर्गत ही है गतिरूप क्रिया से यह निष्पन्न होता है और गति भी यहां ३ से ही आरम्भ होती है एवं आकाश जगत् से बाहिर नही है।

(त्रिकालातीतम्) 'तत्-अपि-ओङ्कारः-एव' तीनों कालों को जो उल्लङ्घन किए हुए है-तीनो कालो की मर्यादा से जो बाहिर है वह भी ओम् ब्रह्म ही है अन्य पदार्थ नही क्योंकि काल व्यापारक्रिया के साथ सम्बन्ध रखता है क्रिया के होते हुए वर्तमान काल पहिले को भूत आगामी को भविष्यत् काल समझा जाता है सो आकाश से बाहिर क्रिया का आरम्भ नही है देखो चित्र में अंक २, अतः वहां कालगति न होने से कालातीत ओम्-ब्रह्म ही है।

आशय—ओम् जो वस्तुरूप है जिसे ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं वह एकरस निर्विकार अमर अविनाशी और सर्वव्यापक है यह सारा जगत् उसकी महिमा है वह महिमवान् त्रिकालरूप तथा जगत् से और तीनों कालों से भी भिन्न है। इस प्रकार पूर्वकथन में सगुण और उत्तर कथन में निर्गुणं वर्णन किया गया है ॥

सर्वꣳह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

अर्थः—(एतत् सर्वं हि ब्रह्म) यह ओम् समुदायरूप से या अलग अलग अवयव रूप से 'अ, उ, म्' सब ही ब्रह्म है (अयम्-आत्मा ब्रह्म) यह यह 'चेतन' वस्तु ब्रह्म है (सः-अयम्-आत्मा-चतुष्पात्) वह यह 'चेतन' वस्तु ब्रह्मात्मा चार अवस्था वाला है।

विशेष—पाद शब्द का पैर ही अर्थ नही है किन्तु अन्य अर्थ भी हैं। मूर्त जड वस्तुओं में 'पाद' शब्द अंशार्थ चेतन-मूर्त (चेतनावान् मूर्त) में अङ्गार्थ और अमूर्त चेतन में अवस्थार्थ में आता है 'पद = गतौ' पद धातु गति

अर्थ में है और गति के ज्ञान, गमन, प्राप्ति अर्थ हैं अतः उक्त चारों अर्थों में प्रयुक्त होता है उदाहरण निम्न प्रकार है—

१—मूर्तजड वस्तुओं में अंशार्थ पाद शब्द प्रयुक्त होता है, प्राप्ति अर्थ को लेकर। प्राप्त होता है यथावस्थित वस्तु जिसके द्वारा वह पाद उसका अंश, जैसे चतुष्पात् पर्यङ्क आदि अर्थात् पलङ्ग चारपाओं का फलिका चार पाए की तिपाई तीन पाए की आदि आदि। यहां पाद शब्द आधारभूत अंश के लिये आया है। ग्रन्थ में पाद शब्द अंशार्थ में जैसे अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय का चतुर्थ पाद। क्वचित् क्वचित् चतुर्थ अंश का वाचक जैसे 'सपादप्रस्थं दुग्धम्' पावसहित सेर दूध, यहां चतुर्थ अंश में आया है।

२—मूर्तचेतन या चेतनावान् मूर्त में अङ्गार्थ पाद शब्द गति को लक्ष्य करके प्रयुक्त है यह प्रसिद्ध है ही जैसे 'द्विपाद् मनुष्यः-पक्षी च' "चतुष्पादो गर्भिण्या" (अष्टाध्यायी २। १। ७१) दो पाँव का मनुष्य और पक्षी चार पाँव का पशु इत्यादि।

३—अमूर्त चेतन में पाद शब्द अवस्वार्थ होता है यहां ज्ञान अर्थ अभीष्ट है, जाना जाता है अनुभव किया जाता है साक्षात्कार किया जाता है वह पाद कहलाता है। जो कि इस स्थान पर 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' वचन में है, आत्मा [ब्रह्मात्मा] अमूर्त और चेतन है इस मे अन्य अर्थ घट नहीं सकता है अतः यहां पाद शब्द अवस्था का वाचक है।

उपनिषद् के प्रस्तुत वचन 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' में पाद शब्द अङ्गार्थ में नहीं है यह बात भूमिका में बतलाए प्रस्तुत उपनिषद् भाष्य के आधाररूप ईश्वरानुकूल्य, आचार्यशैली-रक्षा और वेदानुसारता से भी सिद्ध होती है।

ईश्वरानुकूल्य—

ईश्वर सर्वव्यापक और अजन्मा है उसमें अङ्गरूप पाद-लक्षणा नहीं घटती है यदि ईश्वर में अङ्गरूप पाद लक्षणा हो तो वह काल से ऊर्ध्व एवं

सर्वव्यापक और अजन्मा न हो सकेगा कारण कि कोई भी अङ्गवान् काल से विनष्ट होने वाला एक देशी और जन्म लेने वाला ही होता है।

आचार्यशैलीरक्षा—

आचार्य ने तृतीयपाद को सर्वेश्वर सर्वज्ञ आदि नामों से कहा है और चतुर्थपाद को तो शान्त केवल आत्मतामें वर्तमान हुआ बतलाया है, अङ्गरूप पाद सर्वेश्वर सर्वज्ञ शान्त केवल आत्मा में नहीं होता है अतः आचार्यशैली भी स्पष्ट जनाती है कि यहां पाद शब्द अङ्गरूप नही है॥

वेदानुसार—

वेद मे ईश्वर को 'अकाय' अर्थात् शरीररहित कहा है, जब शरीर ही नही तब पाद शब्द अङ्गार्थ मे हो ही नही सकता। अन्यत्र उपनिषद् में भी यह बात स्पष्ट करदी गई है "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वेताश्वतरोप० ३। १९) ईश्वर के अङ्गरूप हाथ-पांव नहीं है। कदाचित् कोई कहने लगे कि वेद में ईश्वर मे अङ्गरूपवाद-पाव का भी वर्णन मिलता है जैसे "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्" (ऋ० १०। २१। ३) वहां परमेश्वर के सव ओर नेत्र सब ओर मुख सब ओर बाहु सब ओर पांव बंतलाए हैं। यह भ्रम है कि इस मन्त्र में ये नेत्र मुख बाहु पाव स्थूल अङ्गरूप हैं जबकि पूर्व मे हमने वेद से बतलाया कि ईश्वर 'अकाय' है फिर अङ्गरूप में नेत्र मुख बाहु पांव कैसे हो सकते है और सब ओर नेत्र साथ ही सब ओर मुख सब ओर बाहु पुनः सब ओर पांव कैसे सम्भव है। क्या जहां पांव है वहां आंख और जहां आख वहां पांव भी हो सकता है फिर सारे अङ्ग सब जगह वह बात अङ्गरूप से कथन नहीं की गई है शक्तिरूप से की गई है वह उन उन अङ्गों का काम करने की शक्ति रखता है जैसा पूर्व कहे एक उपनिषद्वचन से भी बतलाया है वह पावरहित है पर चलने वाला है हाथ से रहित है पर पकड़ने वाला है अङ्गरूप से ईश्वर में सब ओर पांव आदि नही हो सकते।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः
स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

अर्थ—(जागरितस्थानः) जागरितस्थान जिसका है वह जागरित-स्थानी या जागरितप्रवृत्तिवाला (बहिःप्रज्ञः) बाहिर प्रज्ञा जिसकी है—व्यक्त कार्यरूप जगत् मे बुद्धि रखने वाला (सप्ताङ्गः) सात अङ्ग जिसके है वह सात अङ्गवाला (एकोन-विंशतिमुखः) उन्नीस प्रमुख मुखवत् प्रधानशक्तिया जिसकी हैं-उन्नीसप्रमुखशक्तिवाला (स्थूलभुक्) स्थूलजगत् को पालने वाला[1]-स्थूलजगत् का पालक रक्षक (वैश्वानरः) सबका नायक नियन्ता चालक (प्रथमः पदः) वह ऐसे लक्षण युक्त प्रथमावस्थावाला या प्रथमप्रकार से समझा जाने वाला या प्रथम साक्षात्कार मे आने वाला ओङ्कार का वाच्यरूप ब्रह्म है यह एक दर्शन है ।

ब्रह्म का ज्ञान करने में यही प्रथम निश्चय हैं । शिष्य के सम्मुख गुरु जी बालक आदि खिलौना बनाकर उस से पूछता है कि बच्चा यह खिलौना किसने बनाया ? शिष्य कहता है गुरु जी अभी मेरे सम्मुख आपने बनाया है । पुनः गुरु पूछता है तो फिर यह तुम्हारा और मेरा शरीर तथा सूर्य आदि पदार्थ किसने बनाए है ? तब शिष्य मन में विचार कर कहता है कि हा, इन सब का बनाने वाला है तो सही पर वह कैसा है यह मैं नही जानता हू पुनः गुरु इस 'जागरित स्थानः' मन्त्रानुसार लक्षणों से जनाता है और क्रमशः उच्चसीमा तक ले जाता है । अथवा कोई मननशील तथा कार्य-कर्ता के सम्बन्ध को जानने वाला जन प्रातः सायं जंगल मे कही एकान्त शान्त स्थान में विराजमान हो विविध जाङ्गलिक पदार्थों नदी पर्वतो तथा उदय और अस्त होते हुए सूर्य

---

१ "भुज पालनाभ्यवहारयोः" (रुधादि) भुज धातु पालने और भोगने अर्थ मे है । यहा यह पालन अर्थ में है भोगने अर्थ मे नही कारण कि वेद में ईश्वर को न भोगने वाला कहा है "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" यहां रूपकालङ्कार से बतलाया है कि जीवात्मा परमात्मारूप दो पक्षी प्रकृति एव प्राकृतिक जगत् रूप वृक्ष पर बैठे है उनमें से जीवात्मा उसके फल को भोगता है और परमात्मा नहीं भोगता है ।

एव अन्य नक्षत्र तारो ग्रह सितारो को देख कर मन में निश्चय करता है कि हां है इस जगत् का बनाने वाला है परन्तु वह किस अवस्था मे है कैसा है यह विचार करने लगता है तो उस जगत्कर्ता जगदीशदेव का प्रथम गुण उसके सामने आता है 'जागरितस्थानः' जागरित स्थानी-जागरितप्रवृत्तिवाला-जैसा कि मैं किसी कार्य को करता हुआ या किसी को बनाता हुआ होता हूं तो जागरिता वस्थावाला होता हू ऐसा ही वह भी है पुनः दूसरा गुण सामने आता है 'वहिःप्रज्ञः' अपने से भिन्न प्रकटीभूत जगत् में बुद्धि जिसकी लगी है ऐसा वह है पश्चात् तीसरा गुण उपस्थित होता है 'सप्ताङ्गः' सात अङ्गों वाला वह है जिस प्रदेश मे चेतन वस्तु प्रविष्ट होकर नियन्ता बन विराजता होता है वह उसका अङ्ग समझा जाता है, जब यह है तो वैदिक शब्दों में भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्य, सातलोकः है ये भू आदि नाम लोकप्रदेश या लोकक्षेत्र या लोकमण्डल है जो कि समस्त दृश्य अदृश्य विश्व या खगोल के समस्तर सात परिधिप्रदेश है जिन मे अनन्त पिण्ड है परन्तु भूपरिधि या भूस्तर के समस्त पृथिवीपिण्डो के सात विभाग जातिरूप से है। एवं इन भूलोक आदि मे ब्रह्म व्यापक होकर इनका नियन्ता है कारण कि यदि ब्रह्म पृथिवीलोक या भूलोक में ही हो तो सूर्य लोक या स्व -लोक मे न हो तो वहा कौन कार्य करे एवं सूर्य-लोक या स्वः-लोक मे ही हो तो पृथिवीलोक या भूलोक में कौन कार्य करेगा तथा एकदेशी होने से एकदेशीय उपाधिया भी ब्रह्म को लग जावेंगी अतः अङ्गरूप भू आदि सात लोकस्तरो मे व्यापक होकर वह सप्ताङ्ग है। पश्चात् चतुर्थ गुण प्रतीत हो जाता है 'एकोनविंशतिमुखः' उन्नीसमुख-उन्नीस-प्रमुखशक्ति वाला है। जैसे मैं कुछ कार्य करता हूँ तो मेरे पांच कर्मेन्द्रियां पांच ज्ञानेन्द्रिया मन बुद्धि चित्त अहङ्कार और पाच स्थूलभूतों से युक्त होकर करता हूँ एव उस ब्रह्म के भी ये साधन है अङ्गरूप से नही पर शक्तिरूप से अवश्य हैं, वेद में कहा भी है, "विश्वतचक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।" (ऋ० १०। ८१। ३) 'सब ओर आख वाला, सब ओर मुखवाला सब ओर भुजावाला और सब ओर पैरवाला वह ब्रह्म है'। सब ओर आंख सब ओर मुख सब ओर भुजा सब ओर पैर अङ्ग रूप होना असम्भव है। एक ही अङ्ग

का सब ओर होना असम्भव है पुनः आंख जहां, वहां पैर भी जहां पैर वहां आंख या हाथ आदि होने की तो कथा ही क्या। पुनः पञ्चम गुण का परिचय होता है 'स्थूलभुक्' स्थूल जगत् का पालक स्थापक है यदि ऐसा न हो तो सब पिण्ड परस्पर टकराकर नष्ट भ्रष्ट हो जावें अन्त में छठा गुण उपलब्ध होता है 'वैश्वानरः' सब का नायक या चालक नेता ड्राईवर की भाँति है किस पिण्ड को किस गति से कितने परिधिप्रदेश में चलना है सब गति विधि का नेता वह ब्रह्म है। बस यह है प्रथम प्रकार से समझ में आनेवाला ब्रह्म या ब्रह्म का प्रथमदर्शन वा प्रथम साक्षात्कार, गुणों के प्रत्यक्ष से ही गुणी का प्रत्यक्ष समझा जाता है। ब्रह्म के इस प्रथम दर्शन में निमग्नमनवाले की समाधि वितर्करूपानुगम समाधि कहलाती है ॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

अर्थः—(स्वप्नस्थानः) स्वप्नस्थान जिसका है-स्वप्नस्थानी स्वप्नप्रवृत्तिवाला-विचारप्रवृत्तिवाला (अन्तःप्रज्ञः) अन्तर्गत सूक्ष्म जगत् में जिसकी बुद्धि लगी है ऐसा वह (सप्ताङ्गः) पूर्ववत् परन्तु सूक्ष्म सप्ताङ्ग वाला (एकोनविंशतिमुखः) पूर्ववत् पर सूक्ष्म उन्नीस प्रमुख शक्ति वाला (प्रविविक्तभुक्) प्रविवेचनगत-सूक्ष्म जगत् का पालक संस्थापक (तैजसः) तेजः स्वरूप-बिजुली के समान 'तेजस् ही तैजस है स्वार्थ में अण् प्रत्यय' (द्वितीयः पादः) द्वितीयावस्था वाला-द्वितीय प्रकार से समझा जाने वाला द्वितीय उपाय से साक्षात् किया जाने वाला वह ब्रह्मात्मा [ओंकार का वाच्य] है।

जङ्गल में गये हुए मननशील उपासक की बुद्धि ओंकारात्मा ब्रह्मात्मा में आगे गति करती है उसकी विचारधारा आगे बढ़ती है जब कि यह जगत् न बना था इस स्थूलरूप में न था तो यह ब्रह्मात्मा किसी अवस्था में था उस समय भूलोक या पृथिवीगोल पर प्राणी और वनस्पति नहीं उत्पन्न हुए थे पृथिवी में उनके उपजाने का स्नेह धर्म भी नहीं आया पर्वत भी ठोस बन पृथिवी की परिधि से बाहिर नहीं आए थे और समुद्ररूप जल का महागर्त भी

नहीं प्रकट हुआ था किन्तु पृथिवी लिलबिल मृदु और मेघसमान सूक्ष्म गोल रूप मे घूम रहा था एवं सारे आकाशीय पिण्ड इसी प्रकार सूक्ष्म बने हुए थे सूर्य केवल विस्तृत ज्योतिर्मय-मात्र फैला हुआ था उस अवस्था में वह परमात्मा विचारप्रवृत्ति वाला अन्तर्गत सूक्ष्म जगत् मे बुद्धि रखने वाला भू आदि सूक्ष्म हुए लोकों को व्याप्त हुआ हुआ सूक्ष्मरूप उन्नीस प्रमुख शक्ति वाला पञ्च सूक्ष्म भूतों तन्मात्राओं से युक्त शक्तिवाला सूक्ष्म जगत् का पालक संस्थापक तेजः स्वरूप विद्युद्रूप यह द्वितीयावस्थावाला ब्रह्मात्मा है। ब्रह्म के इस द्वितीय दर्शन में निमग्न हुए मनवाले की समाधि विचाररूपानुगम समाधि कहलाती है यह सूक्ष्म जगत् मे ब्रह्मदर्शन है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते
न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ।
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो
ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतयीः पादः ॥ ५ ॥

अर्थः—(यत्र) जिस अवस्था में (सुप्तः) सोया हुआ (न कञ्चन कामं कामयते) किसी भी विषय को नही चाहता (न कञ्चन स्वप्नं पश्यति) न ही किसी विचार को अनुभव करता है (तत् सुषुप्तम्) वह सुषुप्त अवस्था है। इस प्रकार वह—

(सुषुप्तस्थानः) सुषुप्तस्थान जिस का है-सुषुप्तस्थानी-सुषुप्तप्रवृत्तिवाला (प्रज्ञानधनः-एव) प्रज्ञा है घनीभूत केन्द्रीभूत जिसकी ऐसा वह गूढप्रज्ञ (एकीभूतः) अनेक स्थूल सूक्ष्म पृथिवी आदि लोक 'नाम और रूप को छोड़-कर' एक प्रकृति मात्र हो गए है जिसमे वह एकीभूत अर्थात् एकाङ्ग (आनन्द-मयः-हि-आनन्दभुक) अतिसूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति मे बहुत अति-सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति का पालक रक्षक संस्थापक (चेतोमुखः) अन्तःकरण ही मुखवत् प्रमुख शक्ति है जिसकी वह चेतनस्वरूप (प्राज्ञः) ईक्षक या द्रष्टा 'प्रज्ञ ही प्राज्ञ वार्थे

में अण् प्रत्यय' (तृतीयः पादः) तृतीय उपाय से साक्षात् होने वाला वह ब्रह्मात्मा [ओङ्कारपद का वाच्य] है ॥

पूर्ववत् वही मननशील जङ्गल में स्थित हुआ पुनः विचारता है जबकि यह सूक्ष्म जगत्-पृथिवी आदि सूक्ष्म लोकमात्र भी नही बने थे केवल प्रकृति उसके सामने थी तो उस समय ब्रह्म किस अवस्था में था एवं निश्चय करता है कि वह सुषुप्तप्रवृति वाला था अर्थात् न वह किसी पदार्थ के निर्माण की इच्छा करता है और न ही जीवों के उद्धार आदि के निमित्त कुछ विचारता है तथा अनेक पृथिवी आदि लोक एक प्रकृतिमात्र जिसमे हो गये अनेक पृथिवी आदि सत्ता से नाम और रूप को छोड़कर एक कारणाख्य प्रकृतिमात्र होकर वर्तते हैं जिसमें एवं वह गूढप्रज्ञ निरतिशयज्ञानस्वरूप और जो अव्यक्त अतिसूक्ष्म कारणाख्य प्रकृति से युक्त उसका पालक या स्थापक, चेतस्-अतःकरण-शक्ति जिसकी मुख्य शक्ति है ऐसा वह चेतोमुख और प्राज्ञ-ईक्षक या द्रष्टा अर्थात् प्रकृति को ईक्षण मात्र से सम्मुखी करता है ऐसा तृतीय अवस्थावाला या तृतीय प्रकार से समझा जाने वाला था तृतीय उपाय से निश्चय होने वाला वह यह ब्रह्मात्मा प्रकृति में ब्रह्मदर्शन यह आनन्दरूपानुगम समाधि है ॥ ५ ॥

विशेष—यहां तीसरे चौथे पांचवें मन्त्र मे जागरित स्वप्न सुषुप्त व्यवहारों को देखकर कोई एक भाष्यकार जीवो के प्रति इन अवस्थाओं को लगाते हैं परन्तु ऐसा करना सर्वथा अयुक्त है क्योकि वैश्वानर आदि शब्द मुख्यतया ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होते हैं जीवो के लिये नही तथा आचार्य की शैली के अनुसार भी ब्रह्म ही की ये अवस्थाएं इस उपनिषद् में समझी जाती हैं कारण कि 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' अवस्थाओ का यह उपक्रम वचन है इसमें ओम् को ब्रह्म कहा और ब्रह्मात्मा की उक्त चार अवस्थाएं है ऐसा कहा एव आगे उपसहार वचन 'सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कार अधिमात्रं पादा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति' में भी यह बात स्पष्ट है उस चार अवस्था वाले ब्रह्मात्मा ओम् को चार अवस्था वाला ब्रह्मात्मा तथा चार अवस्था वाले ब्रह्मात्मा की चारो अवस्थाओ को ओम् की अकार आदि मात्राओं

में घटाया जिस ओम् को ब्रह्मात्मा बतलाया गया था। ऋषि दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश में लिखा है "ओ३म् यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है।" अतः ओ३म् सासारिक पदार्थों का सघात या जीवो को मान लेना और कहना अयुक्त ही है। ब्रह्मात्मा की जागरित आदि अवस्थाए होती हैं—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥

(मनु० १ । ५२)

अर्थात् जिस समय वह परमात्मदेव जागता है उस समय यह प्रसिद्ध व्यापार मे होता है और जिस समय वह सोता हैं तब छिप जाता है। लौकिक एवं ज्यौतिष सिद्धान्त भी है जब तक सृष्टि है तब तक ब्राह्म दिन और जब तक प्रलय है तब ब्राह्म रात्रि कहलाती है अतः सृष्टिकार्य मे उसका प्रवृत्त होना और उससे निवृत्त होना ही परमात्मदेव का जागना और सोना है।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध है कि किसी चेतन व्यक्ति [चाहे ब्रह्म हो अथवा जोव] का जब स्थूल पदार्थो के साथ सम्बन्ध होता है तब उसको जागरित और जब सूक्ष्मो के साथ होता है तो उस समय स्वप्न और जब अति-सूक्ष्म अव्यक्त के साथ सम्वन्ध होता हो तो सुषुप्ति समझी जाती है ये पारि-भाषिक अवस्थाएं हैं।

(ग) जागरित स्थानो[१] वहिःप्रज्ञः[२] सप्ताङ्ग[३] एकोर्नविशतिमुखः[४] स्थूलभुग्[५] वैश्वानरः[६] प्रथम. पादः ॥ ३

स्वप्नस्थानो[१] ऽन्तःप्रज्ञः[२] सप्ताङ्ग[३] एकोनविंशति-मुखः[४] प्रविविक्त-भुक्[५] तैजसो[६] द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

सुषुप्तस्थान[१] एकीभूतः[३] प्रज्ञानघनः[२] (एवानन्दमयोहि) आनन्दभुक्[५] चेतोमुखः[४] प्राज्ञः[६] तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

इन मन्त्रों में छः छः गुण सहकारी क्रमगत है पञ्चम मन्त्र में दो गुण वाक्यालंकार के लिये हेर फेर से रखे हुए है, हम इन क्रमगत सहचारी शब्दों को पृथक् रख कर कुछ विज्ञप्ति दर्शाते हैं—

१	२	३	४	५	६	पाद
जागरितस्थान	बहिःप्रज्ञ	सप्ताङ्ग	एकोनविंशतिमुख,	स्थूलभुक्	वैश्वानर	प्रथम
स्वप्नस्थान	अन्तःप्रज्ञ	सप्ताङ्ग	एकोनविंशतिमुख,	प्रविविक्तभुक्	तैजस	द्वितीय
सुषुप्तस्थान	प्रज्ञानघन (गूढप्रज्ञ)	एकीभूत (एकाङ्ग)	चेतोमुख	आनन्दभुक्	प्राज्ञ	तृतीय

इन शब्दों को क्रमिक (क्रमबद्ध) और व्याकरणरूपी विज्ञप्ति को मीमांसा द्वारा रखते हैं वह यह कि—

(१) "जागरित स्थान[1], स्वप्नस्थान[2], सुषुप्तस्थान[3]" ये बहुव्रीहि समास में युक्त हैं।

(२) बहिप्रज्ञः[1], अन्तःप्रज्ञ[2], प्रज्ञानघन[3] (गूढ़प्रज्ञ)" ये तीनों भी व्याकरण की व्युत्पत्ति में पूर्ववत् बहुव्रीहि समास में युक्त हुए समान हैं

(३) प्र० सप्ताङ्ग[1], द्वि० सप्ताङ्ग[2], एकीभूत [एकाङ्ग] पूर्ववत् बहुव्रीहि समास में व्याकरण की व्युत्पत्ति में समान है।

(४) प्र० एकोनविंशतिमुख[1], द्वि० एकोनविंशतिमुख[2], चेतोमुख[3]" पूर्ववत् बहुव्रीहि समास में समान हैं।

(५) स्थूलभुक् प्रविविक्तभुक्[2] आनन्दभुक[3] ये तीनों व्याकरण की व्युत्पत्ति से उपपद तत्पुरुष समास में हैं।

(६) 'वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, ये तीनों शब्द व्याकरण की व्युत्पत्ति से स्वार्थ में तद्धित अण् प्रत्ययान्त हैं अर्थात्—

विश्वानर+अण् स्वर्थे = वैश्वानरः (अग्निरूप)
तेजस्+अण् " = तैजसः (विद्युद्रूप)
प्रज्ञ +अण् " = प्राज्ञः (आदित्यरूप)

क्रमवद्ध अवस्था में "नायक-नेता[1]", उत्तेजक-उत्तेजिता[2] दर्शक-द्रष्टा[3] (ईक्षक)" के बोधक है कारण कि किसी भी कार्य के सम्पादन करने में जब कोई चेतन प्रवृत्तिमार्ग में आता है तो प्रथम दर्शक-द्रष्टा फिर उत्तेजक-उत्तेजिता पश्चात् नायक नेता होता है अर्थात् अपने से भिन्न पदार्थ के साथ वर्तमान होने में ये औपाधिक (उपाधि से हुई) या नैमित्तिक अवस्थाएं समझें कारण कि कर्त्ता प्रथम किसी वस्तु को ज्ञानपूर्वक देखता है[1] कि यह अमुक वस्तु है और तदनन्तर उसका भेदन-छेदन[2] करके अवस्थाविशेष में कर देता है पश्चात् अभीष्ट निर्मिति (सृष्टि) में लाकरउ प्रयोग करता है, यह हुआ प्रवृत्ति-मार्ग।

निवृत्तिमार्ग में ये ही तीनों रूप प्रतिकूलता से होते है अर्थात् प्रथम नायक-नेता फिर उत्तेजक-उत्तेजिता पश्चात् दर्शक द्रष्टा होकर निवृष्ट हो जाता है कारण कि समयानुसार अभीष्ट उपयोग[1] हो जाने पर उस निर्मिति (सृष्टि) को निष्प्रयोजन (रद्दी) समझ नष्ट-भ्रष्ट[2] करने लगता है तब वह पूर्व जैसे सृष्टि-आकार में न रहकर भेदनछेदन अवस्थाविशेष में आता है और वह अवस्था विशेष भी पूर्व सृष्टि के लिये हुई थी अतः उस स्थिति में भी उसे नही रखना चाहता तब उससे भी निवृत्त हो जाता है[3] और वह वस्तु भी अपने कारणरूप प्रकृतिस्वरूप में आजाती है। इससे क्रमगत चेतन पदार्थ की अपने से भिन्न वस्तु के साथ वर्तमान तीन औपाधिक या द्वैत अवस्थाएं होती हैं।

अब पांचवें क्रम पर विशेष विचार देखें—

(५) क्रम "स्थूलभुक्[1], प्रविविक्तभुक् [प्रविवेचनगतभुक् = सूक्ष्मभुक्], आनन्दभुक् [अव्यक्तभुक् = कारणभुक् = प्रकृतिभुक्] है।"

यहां आनन्द शब्द अव्यक्त-कारण प्रकृति के लिये है यह आचार्य की शैली से स्पष्ट है। आचार्य ने प्रथम स्थूल लिखा पुनः 'प्रविविक्त = सूक्ष्म पुनः आनन्द अतः क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होते हुए अव्यक्त प्रकृति को सिद्ध करता है।

(ख) सुषुप्ति की नीद का सोना आनन्द की नींद का सोना प्रसिद्ध है सुषुप्ति कारणशरीर अर्थात् प्रकृति के आधार पर होती है, ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है "तीसरा कारण शरीर जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढनिद्रा होती है" (सत्यार्थप्रकाश)

(ग) 'आनन्दभुक्' शब्द यहां लाक्षणिक तीन अवस्थाओं के अन्तिम सुषुप्तावस्था का है एवं कोशों में अन्तिम कोश 'आनन्दमय' है इस प्रकार आनन्दमय कोश और आनन्दभुक् समानरूप है आनन्दमय कोश का आधार कारण प्रकृति है यह ऋषि दयानन्द ने लिखा है।

अब लीजिये उपासनाशास्त्र की अनुसारता जो आनन्द के अव्यक्त कारण प्रकृति अर्थ में विशेष प्रमाण है। इस उपनिषद् में ओ३म् रूप उपास्य

ब्रह्मात्मा की चार अवस्थाएं बतलाई हैं उन अवस्थाओं में उपासक या अभ्यासी की चार प्रकार की समाधियां होती हैं उन्हें निम्न योगसूत्र और व्यासभाष्य में तुलना करके देखें—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥

(योग० समाधि० । १७)

अर्थात् "वितर्कारूपानुगम, विचाररूपानुगम, आनन्दारूपानुगण, अस्मितारूपानुगम" ये चार सम्प्रज्ञात समाधि होती है। एवं "स्थूलभुक् वैश्वानर" की उपासना से वितर्कारूपानुगम, "प्रविविक्तभुक्-तैजस" की उपासना से विचाररूपानुगम, "आनन्द-भुक् प्राज्ञ" की उपासना मे आनन्दारूपानुगम, और आगामी "एकात्मप्रत्ययसार" की उपासनां से अस्मितारूपानुगम समाधि होती है। अब इस बात को अर्थसहि व्यासभाष्य द्वारा स्फुट करते हैं—

वितर्कश्चित्तस्यालम्वने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः। एकात्मिका संविदस्सिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति (व्यास भाष्य) देखो कोष्ठक पृष्ठ २९६, २९७

इस प्रकार विवेचन से 'आनन्दभुक्' को अव्यक्तभुक् प्रकृतिभुक् कारणभुक् कहा जा सकता है। यहा उपनिषद् मे आया आनन्द शब्द अव्यक्त प्रकृति या कारण का अर्थ रखता है। लोक में भी गहराई या मूल कारण में पहुँचने पर कहा जाता है कि अब मुझे आनन्द प्राप्त हुआ है।

चेतन व्यक्ति का प्रवृत्तिमार्ग मे प्रथम 'कारणशरीर' फिर 'सूक्ष्मशरीर' पश्चात् 'स्थूलशरीर' होता है तथा निवृत्तिमार्ग में 'प्रथम स्थूल शरीर' को त्यागता है फिर 'सूक्ष्मशरीर' को पश्चात् 'कारण शरीर' को भी त्याग देता है।

जिस प्रकार दार्शनिकों का सिद्धान्त है कि यह अस्मदादिकों का शरीर भी (व्यष्टिरूप से) सृष्टि या संसार है एवं औपनिषद सिद्धान्त में यह दृश्य और अदृश्श सम्पूर्ण संसार ब्रह्मात्मा का शरीर है—

उपास्य संख्या	विवरण	उपास्य का स्वरूप	समाधि का स्वरूप
१	व्यास—	वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः	तत्र चतुष्टयानुगतः प्रथमः समाधिः सवितर्कः ।
	भाषार्थ—	चित्त के सम्मुख स्थूल पदार्थों से लक्षणा में आया स्वरूप वितर्क कहलाता है। एवं 'स्थूलभुक्' उपास्य वितर्क है।	उन चारों में से प्रथम समाधि सवितर्क है। एवं 'स्थूलभुक्' उपास्य से 'सवितर्क' समाधि होती है।
२	व्यास—	सूक्ष्मो विचारः ।	(तत्र चतुष्टयानुगतः) द्वितीयः (समाधिः) वितर्कविकलः सविचारः।
	भावार्थ—	चित्त के सम्मुख सूक्ष्म पदार्थों से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप विचार कहाता है। एवं 'प्रविविक्तभुक्' उपास्य 'विचार' है।	(उन चारों में से) द्वितीय (समाधि) वितर्कानुगम से आगे बढ़ी हुई सविचार है। एवं 'प्रविविक्तभुक्' उपास्य से 'सविचार' समाधि होती है।

३	व्यास—	आनन्दो ह्लादः ।	(तत्र चतुष्टयानुगतः) तृतीयः (समाधिः) विचारविकलः सानन्दः ।
	भाषार्थ—	चित्त के सम्मुख अव्यक्त अर्थात् कारण पपार्थ से लक्षणा में आया स्वरूप आनन्द कहाता है । एवं 'आनन्दभुक्' उपास्य 'आनन्द है ।	(उन चारों में से) तृतीय (समाधि) विचारानुगम से आगे बढ़ी हुई 'सानन्द' है । एवं 'आनन्दभुक्' उपास्य से 'सानन्द' समाधि होती है ।
४	व्यास—	एकात्मिका संविदस्मिता ।	(तत्र चतुष्टयानुगतः) चतुर्थः (समाधिः) तद्विकलोऽस्मितामात्र इति ।
	भाषार्थ—	केवल आत्मा से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप 'अस्मिता' कहाता है । एवं आगामी 'एकात्म प्रत्ययसार' उपास्य 'अस्मिता' है ।	(उन चारों मे से) चतुर्थ (समाधि) आनन्दानुगम से आगे बढ़ी हुई 'अस्मितामात्र' है । एवं 'एकात्मप्रत्यय-सार' उपास्य से 'अस्मितामात्र समाधि होती है ।

य: पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी
शरीरं य: पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत: ॥
योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्याप: शरीरम्० ॥
योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो० यस्याग्नि: शरीरम्० ॥
योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्० यस्यान्तरिक्षं शरीरम् ॥
यो वायौ तिष्ठन्० यस्य वायु: शरीरम् ॥
यो दिवि तिष्ठन्० यस्य द्यौ: शरीरम् ॥
य आदित्ये तिष्ठन्० यस्यादित्य: शरीरम् ॥
जो दिक्षु तिष्ठन्० यस्य दिश: शरीरम् ॥
यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्० यस्य चन्द्रतारकं शरीरम् ॥
य आकाशे तिष्ठन्० यस्याकाशं शरीरम्० ॥
(बृहदारण्यको० अ० ३।ब्रा० ७।म० ३—१२)

एष सर्वेश्वर एव सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(एष:-सर्वेश्वर:) यह तृतीयावस्थावाला ब्रह्मात्मा सर्वेश्वर है कारण कि सब वस्तुओं पर जो ईश्वरत्व = स्वामित्व है वह इसी अवस्था वाले में अधिष्ठित है (एष:-सर्वज्ञ:) यही तृतीयावस्थावाला सर्वज्ञ है समस्त वस्तुओं का ज्ञान तथा जीवों के समस्त कर्मकलाप का ज्ञान इसी अवस्थावाले में है (एष:-अन्तर्यामी) यही तृतीयावस्थावाला समस्त जड़ जङ्गम में अन्दर मन नियमन करने वाला है (एष:-सर्वस्य योनि:) यही तृतीयावस्थावाला सब उत्पन्न वस्तुओं का कारण है (भूतानां प्रभवाप्ययौ हि) सब वस्तुओं का प्रभव = उत्पत्तिस्थान और अप्यय = लयस्थान यही है कारण कि यहां से उत्पत्ति करने वाली प्रवृत्ति आरम्भ होती है तथा यहां पर ही लय करने वाली निवृत्ति स्थान पकड़ती है ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम् । एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः ।। ७ ।।

अर्थ—पूर्ववत् वही विचारशील मनुष्य जङ्गल मे विराजमान ब्रह्म-विचार मे निमग्न प्रकृति के आधार पर आनन्दानुगम समाधि तक पहुँचा हुआ आगे ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रवेश करता है वह ब्रह्मात्मा जबकि प्रकृति को भी लक्ष्य नही कर रहा था तब वह किस अवस्था मे था तब मन्त्रगत भावों का अन्तरात्मा मे भान होता है (नान्तःप्रज्ञम्) उसे अन्तःप्रज्ञ नहीं कह सकते दूसरी अवस्था वाला अन्तप्रज्ञ था (न वहिःप्रज्ञम्) न वहिःप्रज्ञ कह सकते हैं वह प्रथमावस्थावाला था (नोभयतःप्रज्ञम्) न दोनों से मिश्रित (न प्रज्ञान-घनम्) न प्रज्ञानघन-गूढ़प्रज्ञ कह सकते है वह तृतीयावस्थावाला था (न प्रज्ञम्) न द्रष्टा (न-अप्रज्ञम्) न अद्रष्टा कह सकते है किन्तु उसे (अदृष्टम्) अदृष्ट-दृष्टि से परे (अव्यवहार्यम्) व्यवहार मे न आने योग्य (अग्राह्यम्) ग्रहण करने मे अयोग्य (अलक्षणम्) लक्षण से परे (अचिन्त्यम्) चिन्तन में न आने योग्य (अव्यपदेश्यम्) दूसरे को संकेतित करने या समझाने के अयोग्य कह सकते हैं[1] (एकात्मप्रत्ययसारम्) एक = केवल[2] आत्मप्रत्यय आत्मा में

---

१ यहां तक इस तुरीयावस्थावाले का नेति नेति (ऐसा नही वैसा नहीं स्वरूप था ।

२ "एकशब्दोऽयं बह्वर्थः''''अस्त्येव-असहायवाची तद्यथा-एकाग्नयः, एकह-लानि, एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमिति-असहायै रित्यर्थः" (व्याकरणमहा-भाष्यम्)

लोक में भी 'एक' शब्द केवल अर्थ में प्रसिद्ध है, जैसे कोई पूछता है आपके यहां कौन कौन पशु हैं उत्तर में कहता है एक गौवें ही हैं अर्थात् गौएं ही हैं ।

प्रतीति-प्रतिभान-अनुभव ही सार-स्वरूप जिसका है[1] (प्रपञ्चोपशमम्) संसार के प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापार से पृथक् (शान्तम्) निर्विकल्प (शिवम्) कल्याण-रूप है। (अद्वैतम्) केवल (चतुर्थं मन्यन्ते) चतुर्थ-तुरीयावस्थावाले को मानते हैं अनुभवद्वारा जानते हैं ध्यानी योगी जन (सः-आत्मा) वह आत्म-स्वरूप में है (सः-विज्ञेयः) वह जानने योग्य-साक्षात् करने योग्य है ॥ ७ ॥

विशेष:—यहां तक ब्रह्मदर्शन की चार स्थितियां हुईं जोकि—

१—स्थूल जगत् में ब्रह्मदर्शन।

२—सूक्ष्मजगत् में ब्रह्मदर्शन।

३—अव्यक्त प्रकृति में ब्रह्मदर्शन।

४—अपने आत्मा में केवल ब्रह्मदर्शन है।

ये ऐसे ही हैं जैसे घृतरूप स्नेह का स्पर्श या अनुभव प्रथम दूध में दूसरे इस से अधिक मलाई में तीसरे उस से भी अधिक मक्खन में चौथे उस से भी अधिक घृत स्नेह है केवल स्नेह होता है।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति ॥ ८ ॥

अर्थ:—(सः-अयम्-आत्मा) वह यह चार-अवस्थावाला ब्रह्मात्मा (अध्यक्षरम्-ओंकारः) अक्षरों में घटनेवाला-अक्षरों में कहा जाने वाला ओम् है, तथा 'अध्यक्षरम् ओंकारः' अक्षरों में घटनेवाला ओम् = 'सोऽअयम्-आत्मा' वह यह चार अवस्थावाला ब्रह्मात्मा है। अर्थज्ञानकाल में अर्थ जानने वाले के

---

१ सार का अर्थ स्वरूप है "सृ स्थिरे" (अष्टा० ३ । ३ । १७) से सार शब्द बना है। किसी भी वस्तु का स्वरूप ही स्थिर होता है। यथा चेतना जीव में, जडत्व अप्राणी में और प्रकाश अग्नि में स्थिर है अर्थात् जीव चेतनस्वरूप है अप्राणी जडस्वरूप है अग्नि प्रकाशस्वरूप है।

प्रति सज्ञा-संज्ञी का अभेद हो जाता है भेद तो तब तक प्रतीत होता है जब तक अर्थज्ञान न हो। जैसे जिस मनुष्य ने देवदत्त को न देखा हो उस ऐसे मनुष्य को यदि देवदत्त के पुकाराने को कहा जावे तो उस ऐसे पुकारते हुए अपरिचित मनुष्य के अन्दर 'देवदत्त' शब्दबुद्धि ही होती है प्रत्युत जब किसी ऐसे मनुष्य को पुकारने के लिये कहे जो देवदत्त को जानता हो तो 'हे देवदत्त' ऐसा पुकारते हुए उसके अन्दर उसकी आकृति वस जावेगी वह मानो आकृति का पुकारना है। इस प्रकार संज्ञा 'देवदत्त' और संज्ञी आकृतिमान् शरीररूप संज्ञी का अभेद हो जाता है (अधिमात्रं पादाः-मात्राः-च पादाः) मात्राधिष्ठित-मात्राओं में घटने वाली अवस्थाएं है और मात्राएं ही अवस्थाएं है पूर्ववत् अभेद से (अकारः-उकारः-मकारः-इति) अकार = अ, उकार = उ, मकार = म्, इति = मात्राओं का अभ्यासपूर्वक विराम[1] 'अमात्र' ये।चारों पूर्वोक्त अवस्थाओ के संज्ञा अर्थात् शब्द रूप हैं एवं अवस्थाएं संज्ञी अर्थात् अर्थरूप हैं ॥ ८ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्ते-रादिमत्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

वक्तव्यः—यहां से उपनिषद् के अन्त तक सम्बन्धप्रदशक वचन हैं। 'शब्द, अर्थ, सम्बन्ध' यह शब्दशास्त्र (व्याकरण) का अभिधेय है। उक्त तीनों इस उपनिषद् में स्पष्ट किये गए है, आकारादि मात्राओ से युक्त 'ओम्' शब्द का जागरित-स्थानादि चार अवस्थाओ से युक्त ब्रह्मात्मा अर्थ है यह तो पूर्व वचन मे आचार्य ने दर्शा दिया अब आचार्य अकारादि मात्रारूप शब्द से जाग-

---

१ अभ्यासपूर्वक विराम अथात् चुप मे और अभ्यास के विना चुप मे भारी अन्तर है विना अभ्यास का चुप अन्धकारमय है और अभ्यासपूर्वक चुप सस्कारमय है यथा सार्थ मन्त्र श्लोक गान के अनन्तर चुप एक सस्कारमय आनन्दभरी चुप है।

रितस्थान आदि अवस्थारूप अर्थ का सम्बन्ध क्या है या इन दोनों का सम्बन्ध क्या है यह इस वचन से प्रारम्भ कर स्पष्ट करता है।

अर्थ—(जागरितस्थानः-वैश्वानरः) प्रथमावस्थासम्बन्धी आदि और अन्त के शब्द लेकर आचार्य वर्णन करता है कि तृतीय मन्त्र में ब्रह्मात्मा को जो जागरितस्थानावस्था कह आए हैं वह (अकारः प्रथमा मात्रा) ओम् में 'अ' वर्णरूप प्रथम मात्रा है अर्थात् ओम् में 'अ' शब्द और ब्रह्मात्मा की जागरितावस्था अर्थ है। क्यों ?-(आप्तेः-आदिमत्वान्-वा) आप्ति-पूर्णता से और आदिमता-प्रथमता से[1] उक्त शब्द और अर्थ से दोनो धर्म विद्यमान होने से प्रवृत्तिदृष्टि से आप्ति-पूर्णता और निवृत्तिदृष्टि से आदिमता-प्रथमता विद्यमान है अर्थात् जैसे जागरितस्थान अवस्थारूप अर्थ प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि-फैलाव की दृष्टि से आप्त है पूर्ण है इस से आगे अवस्थाओं की प्रवृत्ति-विकास या फैलाव नही है इसी प्रकार 'अ' मात्रा रूप शब्द ध्वनि भी प्रवृत्तिदृष्टि-विकास दृष्टि-फैलाव की दृष्टि से आप्त है पूर्ण है इस स आगे ध्वनिरूप मात्राओं की प्रवृत्ति विकास-फैलाव नही है। तथा जैसे जागरिस्थान अवस्था रूप अर्थ निवृत्तिदृष्टि-संकोचदृष्टि लयदृष्टि से आदिम-प्रथम है इससे पूर्व अवस्थाओं की निवृत्ति-संकोच-लयता नही है इसी प्रकार 'अ' मात्रारूप शब्दध्वनि भी निवृत्तिदृष्टि सकोच दृष्टि-लयदृष्टि से आदिम है-प्रथम है इससे पूर्व मात्राओ की निवृत्ति-संकोच-लयता नहीं है। ये आप्ति और आदिमता सम्बन्ध के रूप में शब्द और अर्थ दोनों में विद्यमान है अतएव आप्ति और आदिमता यहां सम्बन्ध है (आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् आदिः-च भवति यः-एवं वेद) अवश्य ही सर्वथा आप्तकाम हो जाता है प्रवृत्ति दृष्टि-विकास दृष्टि में और निवृत्तिदृष्टि-संकोचदृष्टि में आदि-प्रथमस्थितिवाला हो जाता है जागरितस्थान अवस्था और 'अ' मात्रा के समान जो इस प्रकार जानता है।

विशेष—आचार्य ने इन सम्बन्धप्रदर्शक वचनों में दो प्रकार के सम्बन्ध बतलाए हैं, एक शब्दशास्त्रसम्सत वैकारिक हेतुरूप दूसरा शब्दशास्त्रसम्मत

---

१ "वा-अथापि समुच्चायार्थे भवति" (निरुक्तम् अ० १। ख० ४)

पारमार्थिक या उपासनाशास्त्रसम्मत उपास्याकारवृत्तितारूप। 'अ' शब्द, जागरितस्थान ब्रह्मात्मा अर्थ, इनका आप्ति और आदिमता सम्बन्ध है शब्द-शास्त्र सम्मत वैकारिक हेतुरूप हुआ। दूसरा उपासना शास्त्रसम्मत उपास्याकारवृत्तिरूप आचार्य ने बतलाया है "आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् आदिश्च भवति य एवं वेद" इस प्रकार जानने वाले या उपासक के अन्दर भी उक्त सम्बन्धरूप 'आप्ति' और 'आदिमता' आजाती है अर्थात् ज्ञाता या उपासक भी वैसा ही हो जाता है। शब्दशास्त्र महाभाष्य में कहा है—

महान् देवः शब्दः महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् (महाभाष्य १।१ १)

अर्थात् शब्दस्वरूप जो महान् देव है उसके साथ हमारी समानता हो जावे इसलिये व्याकरण पढना होता है।

अब इस विषय के बोधार्थ देखें निम्न तालिका—

शब्दशास्त्र की तद्बोध पारमार्थिकता मे—	शब्द	अर्थ	सम्बन्ध (समानता) १
	धारणा	ध्यान	(समाधि ध्येयाकार वृत्ति) २
योग की परिभाषा मे-	उपास्य	उपासना	उपास्याकारता ३
औपनिषद विद्या मे- " "	(ब्रह्म)	ब्रह्मध्यान	(ब्रह्माकारता)

तालिका के अन्तिम क्रम मे प्रमाण प्रदर्शित करते हैं—

(१) शब्दशास्त्र की तद्बोध पारमार्थिकता का प्रमाण तो 'महान् देवः शब्दः ····इत्यादि दे चुके।

(२) योग की परिभाषा प्रमाण निम्न देखें—

"तदेवार्थमात्रानिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" (योग० ३।३) "ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भास प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशत्तदा समाधिरित्युच्यते" (व्यासभाष्यम्) "ध्यानसमाध्योरयं

भेदो ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृतिर्भवति समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवत्रोति (ऋषि दयानन्दः, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्)

(३) औषनिषद विद्या का प्रमाण—

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुष ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः एवं परमं साम्यमुपैति (मुण्डको ३।१।३)

अर्थात् ध्यानी विद्वान् या उपासक जब उस जगदीश परमात्मदेव का साक्षात् करता है तो पुण्य पाप से छूट कर शुद्ध हुआ उपास्यरूप ब्रह्मात्मा के गुणसाम्य को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षा-दुभयत्वाद् वोत्कर्षति ह वैज्ञानसन्तातिं समानश्च भवति (नास्याब्रह्मवित् कुले भवति[1]) य एवं वेद ॥ १ ॥

अर्थः—(स्वप्नस्थानः-तैजसः) पूर्वोक्त द्वितीयावस्थागत आदि और अन्त के शब्द लेकर आचार्य उपदेश करता है कि ब्रह्मात्मा की जो स्वप्नावस्था

---

१ यह कोष्ठान्तर्गत पाठ इस उपनिषद् से बाहिर का है, आचार्यशैली यहां सम्बन्ध प्रदर्शन में है यह पाठ सम्बन्ध से बाहिर है। अथवा यह पाठ सभी सम्बन्धप्रदर्शक मन्त्रों में होगा उपासक की महत्ता दर्शाने के लिए कि उपासक के योनिवंश या विद्यावंश मे कोई नास्तिक नही होता है उसका प्रभाव उसके वंश पर पढ़ता है, जैसे मुण्डकोपनिषद् में कहा है "स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्याब्रह्मवित् कुले भवति" (मुण्डको० ३। २। ९)

२ 'वा' पूर्ववत् समुच्चयार्थ में है।
समानः-ये वर्तमान-समान-तरोजू
मानभ्या सह वर्तमान-समान

कह आए हैं वह (उकारः-द्वितीयमात्रा है) 'ओम्' में 'उ' वर्णरूप द्वितीया मात्रा है अर्थात् ओम् में 'उ' शब्द और ब्रह्मात्मा की स्वप्नावस्था है (उत्कर्षात्) उभयत्वात्-वा) उत्कर्ष-बढ़ते रहने और उभयत्व-मध्यत्व होने से उक्त शब्द और अर्थ में ये दोनों धर्म विद्यमान होने से प्रवृत्ति दृष्टि मे उत्कर्ष-वृद्धि-बढ़ते रहना और निवृत्तिदृष्टि से उभयत्व-मध्यत्व विद्यमान है। अर्थात् जैसे स्वप्न-स्थानावस्थारूप अर्थ प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि-फैलाव की दृष्टि से उत्कर्ष में है-उत्थान में है-बढ़ रही है क्योंकि यहां की प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि फैलाव दृष्टि की पूर्णता नहीं है प्रत्युत आगे भी प्रवृत्ति या विकास होने वाला है ऐसे ही 'उ' मात्रारूप शब्द भी प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि फैलाव की दृष्टि से उत्कर्ष में है-उत्थान में है क्योकि यहां प्रवृत्तिदृष्टि-विकास दृष्टि की पूर्णता नहीं है प्रत्युत आगे भी प्रवृत्ति या विकास होने वाला है। इस प्रकार शब्द और अर्थ में उत्कर्षरूप सम्बन्ध है। तथा जैसे स्वप्नस्थानावस्थारूप अर्थ निवृत्तिदृष्टि-सङ्कोच-दृष्टि-लयदृष्टि से उभयत्व-मध्यत्व-मध्य में वर्तमान है क्योंकि जागरितस्थाना-वस्था की विवृत्ति हो चुकी है दूसरी संख्या में यह है, ऐसे ही 'उ' मात्रारूप शब्द भी निवृत्तिदृष्टि-सङ्कोचदृष्टि-लयदृष्टि से उभयत्व-मध्यत्व-मध्य में वर्तमान है क्योंकि 'अ' मात्रा की निवृत्ति हो चुकी है। इस प्रकार शब्द और अर्थ में उभयत्व सम्बन्ध है। (उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति समानः-च भवति यः-एवं वेद) निःसन्देह उन्नत करता है ज्ञानसन्तान-ज्ञानक्रम को 'प्रवृत्तिदृष्टि से-विकासदृष्टि से' और समान-दोनों ओर मानों से वर्तमान या मानों के साथ वर्तमान होता है तुला में मानों के मध्य या समाना साथ समाना सूची की भाति 'निवृतिदृष्टि से-सङ्कोचदृष्टि से-लयदृष्टि से' स्वप्नस्थानावस्था और 'उ' मात्रा के सदृश जो उसका जानने वाला या उपासक है ॥

विशेषः—यहां पर पूर्व मन्त्र की भांति सम्बन्ध है। यह तो हुआ शब्दशास्त्रसम्मत वैकारिक सम्बन्ध है साथ में आचार्य ने पारमार्थिक सम्बन्ध भी कि इन शब्द और अर्थ को जान लेने वाले या उपासक की ज्ञान-सहचरितावस्था जो हो जाती है वह 'उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति समानश्च

भवति' कथन से बतलाया है ज्ञान को उन्नत करता है आगे बढ़ाता रहता है प्रवृतिदृष्टि-विकासदृष्टि से 'शब्द' और 'स्वप्नस्थानावस्थारूप अर्थ की भांति तथा समान-दोनों ओर मानों से वर्तमान उभयत्व को प्राप्त हो जाता है निवृति-दृष्टि-सङ्कोचदृष्टि-लयदृष्टि से 'उ' शब्द और स्वप्नस्थानावस्थारूप अर्थ की भांति ॥ १० ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इद ँ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

अर्थ—(सुषुप्तस्थानः प्राज्ञः) पूर्वोक्त तृतीयावस्थासम्बन्धी आदि और अन्त के गुणों को लेकर आचार्य दर्शाता है कि ब्रह्मात्मा की सुषुप्तस्थानी तृतीयावस्था कही है वह (मकारः-तृतीया मात्रा) 'ओम्' में 'म्' तृतीय मात्रा है 'ओम्' में 'म्' शब्द और ब्रह्मात्मा की सुषुप्तावस्था अर्थ है (मितेः-अपीतेः-वा) मिति-मापकता धर्म से और अपीति-लयता धर्म से उक्त शब्द है और अर्थ में ये दोनों धर्म वर्तमान होने से मिति और अपीति सम्बन्ध है अर्थात् जैसे सुषुप्तस्थानावस्थारूप अर्थ प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि-फैलाव की दृष्टि से मापक है मूलरूप सूचक या प्रवंतक है इसी प्रकार 'म्' शब्द भी प्रवृत्तिदृष्टिविकास दृष्टि-फैलावदृष्टि से मापक है मूलरूप सूचक या प्रवंतक है। शान्त बैठे मनुष्य की बोलने में प्रथम होठों के खुलनेरूप स्फुरणा होती है होठों की खुलने रूप स्फुरणा में 'म्' अवस्थित हुआ आगे उच्चरित होने वाले वाग्विषय (शब्द) का मापक मूलसूचक-प्रवर्तक बनता है कि कुछ बोलेगा या बोला जायगा तथा निवृत्तिदृष्टि-सङ्कोचदृष्टि-लयदृष्टि में अपीति-अन्तक है जैसे सुषुप्तस्थानावस्था रूप अर्थ निवृत्ति दृष्टि-सङ्कोचदृष्टि-लयदृष्टि से अन्तक या अन्तिम है आगे अन्त होने वाला कुछ नहीं है इसी प्रकार 'म्' शब्द भी निवृत्तिदृष्टि-संकोच दृष्टि-लय-दृष्टि से अन्तक या अन्तिम है क्योंकि इससे आगे अन्त होने वाला कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मीति-मापकता-मूल-सूचकता-प्रवर्तकता और अपीति-अन्तकता-अन्तिमता दोनों ये "शब्द और सुषुप्तस्थानावस्था ब्रह्म में सम्बन्ध है (मिनोति

ह वै-इदं सर्वम्-अपीतिः-च भवति यः-एवं वेद) अवश्य ही लिङ्गरूपता से इस सब को जांच लेता है प्रवर्तक बन जाता है प्रवृत्तिदृष्टि से विकासदृष्टि से और अपने इन्द्रियादि संघात के अन्तिम रूप को सम्पादन कर लेता है 'म्' शब्द और सुषुप्तस्थानावस्थारूप अर्थ के समान जो इस प्रकार जानने वाला या उपासक है ॥

विशेष—यहां पर भी आचार्य ने पूर्व की भांति सम्बन्ध को स्फुट किया है कि ओम् में 'म्' शब्द और ब्रह्मात्मा की सुषुप्तस्थानावस्था अर्थ है इन दोनों में मिति-मापकता-प्रवर्तकता और अपीति-अन्तकता-अन्तिमता सम्बन्ध है यह तो हुआ शब्दशास्त्रसम्मत वैकारिक सम्बन्ध साथ ही आचार्य ने पारमार्थिक सम्बन्ध भी दर्शाया है कि इन शब्द और अर्थ को जानने वाले या उपासक की ज्ञानसहचरित अवस्था जो हो जाती है वह 'मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद' कथन से बतलाया है सब का मापक-प्रवर्तक हो जाता है प्रवृत्तिदृष्टि-विकास दृष्टि से और अपने संसार का अन्तिम स्वरूप सम्पादन करता है निवृत्ति दृष्टि-संकोच दृष्टि से 'म्' शब्द और सुषुप्तस्थानावस्थारूप अर्थ की भांति ।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः 'एकात्मप्रत्ययसारः' प्रपञ्चोपशमः 'शान्तः' शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

अथ—(अमात्रः) ओम् में जो यह 'अ' आदि मात्राओं का अभ्यासपूर्वक विरामरूप शब्द है-'अ' आदि मात्राओं का अर्थज्ञानानन्तर शान्त सस्कार रूप शब्द है वह (चतुर्थः-अव्यवहार्यः-एकात्मप्रत्ययसारः प्रपञ्चोपशमः शान्तः शिव अद्वैतः) चतुर्थ अव्यवहार्य अर्थात् 'नान्तःप्रज्ञ न बहिःप्रज्ञ' से नेति नेति करके कहा हुआ एकात्मप्रत्ययसार केवल आत्मा में साक्षात् मात्रा स्वरूप

वाला, प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव, अद्वैत-केवलमात्र अर्थरूप है। यहां शब्द अर्थ और सम्बन्ध तीनों परमार्थ रूप हैं यहां शब्द भी अव्यक्त है अर्थ भी अव्यक्त है (एवम्-ओङ्कारः-आत्मा-एव) इस प्रकार यह 'ओम्' ब्रह्मात्मा ही है (संविशति-आत्मना-आत्मानं यः-एवं वेद यः-एवं वेद) जो इस प्रकार जानने वाला या उपासक है वह अपने आत्मा से ब्रह्मात्मा में संवेश करता है उससे तादात्म्य समागम सम्बन्ध करता है आत्मसाक्षात् करता है।

विशेषः—ओम् ब्रह्मगायत्री है, गायत्री में २४ अक्षर होते हैं, इस ओम् गायत्री के चार पाद हैं अतः प्रत्येक पाद में छः छः अक्षर हैं। इस ओम् नामक ब्रह्मरूप गायत्री के चार पाद पीछे क्रमशः आए हैं प्रत्येक पाद में छः छः अक्षर भी आए हैं जैसे प्रथम पाद में 'जागरित स्थानो[१] वहिःप्रज्ञः[२] सप्ताङ्गः[३] एकोनविंशतिमुखः[४] स्थूलभुग्वै[५] श्वानरः[६]' द्वितीयपाद में „'स्वप्न-स्थानो[१] ऽन्तःप्रज्ञः[२] सप्ताङ्गः[३] एकोनविंशतिमुखः[४] प्रविविक्तभुक्[५] तैजसः[६] तृतीयपाद में 'सुषुप्तस्थान[१] प्रज्ञानघनः[२] एकीभूतः[३] चेतोमुखः[४] आनन्दभुक्[५] प्राज्ञः[६] चतुर्थपाद मे 'नान्तःप्रज्ञं-अव्यपदेश्यम् [नकाररूप नेति नेति[१]] एका-त्मप्रत्ययसारं[२] प्रपञ्चोपशमं[३] शान्तं शिवम्[४] अद्वैतम्'[६] ये छः छः गुणरूप छः छः अक्षर हैं।

(ख) इस ओङ्कारोपासना में पातञ्जल योगानुसार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के भेद से दो प्रकार की समाधि अभीष्ट हैं। सम्प्रज्ञात के चार भेद हैं "वितर्कविचारा- नन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः" (योगदर्शन। समाधि १७।) वितर्कारूपानुगम से जागरित स्थानी, विचारारूपानुगम से स्वप्न-स्थानी, आनन्दारूपानुगम से सुषुप्तस्थानी और अस्मितारूपानुगम से एकात्म-

प्रत्ययसार की उपासना होती है "एकात्मिका संविदस्मिता" (व्यासः) पश्चात् आगे अद्वैत तक पहुँच कर असम्प्रज्ञात समाधि हो जाती है "विराम-प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (योगदर्शन । समाधिपाद । सू० १८) अर्थात् वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम, अस्मितानुगम, समाधियों के अभ्यासपूर्वक विरामानुभव (विराम पद की प्राप्ति) निरोध संस्कारों से विशेष स्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि है ।

इस उपनिषद् के "संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद" वचन से योग का भी निरूपण मिलता है, जैसे योगदर्शन में समाधि का लक्षण किया है कि "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" (योगदर्शन । समाधिपाद । सू ३) अर्थात् "अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव"—"ध्यान ही अर्थमात्र-निर्भास = ध्येयाकार निर्भासस्वरूपशून्य जैसा अर्थात् ध्येयाकार वृत्ति = समाधि"। अथवा 'समाधि = ध्येयाकारवृत्ति' अतः ध्येयाकार वृत्ति बनाना ही समाधि प्राप्त करना है । इसी प्रकार यहां उपनिषद् में "संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम् = य एवं वेद" अथवा "य एवं वेद = संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम्" अर्थात् तादात्म्य-सम्बन्ध करता है आत्मत्व शुद्ध स्वरूप से ब्रह्मात्मा में = जो ऐसे को जानता है, अथवा 'जो ऐसे को जानता है = तादात्म्य सम्बन्ध करता है आत्मत्व शुद्ध स्वरूप से ब्रह्मात्मा में' अतः आत्मत्वशुद्धस्वरूप से ब्रह्मात्मा में तादात्म्यसम्बन्ध करना = ध्येयाकारवृत्ति = अर्थमात्रनिर्भास = समाधि हुई । इस प्रकार इस तुरीयावस्थायुक्त ब्रह्मात्मा की प्राप्ति या उपासना का साधन ज्ञान (परवैराग्य) और योग (अभ्यास) का निर्देश यहां है । पूर्वोक्त जागरितस्थानी आदि लाक्षणिक अवस्थाओं की उपासना के लिये यहां ज्ञान (वैराग्य) और योग (अभ्यास) का स्वरूप सङ्केतित है [इस के लिये उपनिषद् के शब्द, अर्थ, सम्बन्ध का बोधक निम्न कोष्ठक पृष्ठ ३१० पर देखें—]

सं०	शब्द	अर्थ	हेतुरूप सम्बन्ध	उपासक के प्रति पारमार्थिक सम्बन्ध
१	अ	जागरित स्थानी ब्रह्मात्मा	आप्तेरादिम- त्वद्वा	आप्नोति ह वै सर्वान् कामनादिश्च भवति य एवं वेद
२	उ	स्वप्न- स्थानी ब्रह्मात्मा	उत्कर्षादुभयत्वाद्वा	उत्कर्षति ह वै ज्ञान- सन्तति समानश्च भवति य एवं वेद
३	म्	सुषुप्त- स्थानी ब्रह्मात्मा	मितेरपीतेर्वा	मिनोति ह वा इदं सर्व- मपीतिश्च भवति य एवं वेद
४	* इति (त्रिमा- [illegible] पूर्वक विरामे)	एकात्म प्रत्यय सार प्रपंचो- पशम शान्त शिव अद्वैत ब्रह्मात्मा	अव्ययह्यायं एका- त्वप्रत्ययसार प्रपंचोपशम शान्त शिव अद्वैतता	संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद

कोष्ठक में 'शब्द, अर्थ' के हेतुरूप सम्बन्ध आचार्य के वर्णन किये हुए 'आप्तेः-आदिमत्वात्' 'उत्कर्षात्'-उभयत्वात्' 'मितेः-अपीतेः' दर्शाए हैं तथा उपासक के प्रति पार्मार्थिक सम्बन्ध भी आचार्य ने दो दर्शाए हैं—'आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्-आदिश्च भवति य एवं वेद' उत्कर्षति ह वै ज्ञान-सन्ततिम्-समानश्च भवति व एवं वेद' 'मिनोति ह वा इदं सर्वम्-अपीतिश्च भवति य एवं वेद'। इस पर निम्न मीमांसा देखें। इति